निवेदन

प्रसादजी पर दस या बारह आलोचनात्मक पुस्तकें निकल चुकी हैं किन्तु हिन्दी साहित्य में उनके सांस्कृतिक-महत्व एवं उनकी प्रतिभा के बहुमुखीपन को देखते हुए उतना साहित्य नितान्त अपर्याप्त है। हमारी इस पुस्तक द्वारा बहुत-सी उन दिशाओं में जिनमें कि अन्य पुस्तकों में कुछ उपेक्षा-सी है, प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इसमें यद्यपि भिन्न-भिन्न लेखकों के लेख हैं तथापि यह नितान्त संग्रह-ग्रन्थ नहीं है। ये लेख विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्रसादजी का एक सर्व-सुलभ एवं व्यापक अध्ययन उपस्थित करने के उद्देश्य से लिखाये गये हैं। विभिन्न लेखकों के लेख होने के कारण कहीं-कहीं पुनरुक्ति अवश्य हो गयी है किन्तु उन लेखों को स्वतः पूर्ण बनाने के लिए वह आवश्यक थी। इस तीसरे संस्करण में बहुत थोड़ा संशोधन और परिवर्द्धन हुआ है। कामायनी की भावमूलक व्याख्या, प्रसादजी की कहानी तथा प्रसादजी का प्रकृति-चित्रण, आँसू की प्रेम-मीमांसा आदि लेख दूसरे संस्करण में जोड़े गये। इस सस्करण में कामायनी में मनस्तत्व का विवेचन, कामायनी का काम सर्ग, प्रसाद कालीन नाट्य साहित्य : प्रवाह और प्रक्रियाएँ, स्कन्द गुप्त का नाटकत्व, ध्रुवस्वामिनी का ऐतिहासिक पृष्ठाधार, प्रसादजी के गीत, इरावती एक अध्ययन, प्रसाद जी की कहानियों का वर्गीकरण, प्रसाद जी के काव्य में समरसता, प्रसाद जी की भाषा, प्रसादजी के छन्द, आदि कई नये लेख और जोड़ दिये गये है। और इन निबंधों का विषय क्रम से रक्खा गया है। इनसे पुस्तक की उपयोगिता में बड़ी वृद्धि हुई है और अब यह पुस्तक एक प्रकार से स्वतः पूर्ण हो-गयी है। आशा है इसका उपयोग अधिकाधिक होगा।

निवेदक—

गुलाबराय।

विषय-सूची

गीत—

कथा साहित्य—

विचारधारा —

विविध—

आत्मकथा



मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवनइतिहास,
देखो, करते ही करते हैं अपना व्यङ्ग मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।



प्रसादजी की जीवन-कथा

प्रसादजी का जन्म माघ शुक्ला १२, १९४६ को ऐसे कुल में हुआ था, जहाँ कहावत है—सोने की कटोरी में दूध-भात खाते हैं। सुँघनी साहु का घराना काशी में मशहूर है। वैश्य हलवाई समाज के बाहर भी इस घराने की खूब मान-प्रतिष्ठा है। पितामह बाबू शिवरत्न ने जरदा, सुरती और तम्बाकू से कारोबार को बढ़ाकर खूब धन और यश पैदा किया, साथ ही दोनों हाथों से दान भी देते रहे। उनकी दानशीलता की कहानी अब भी काशी के बड़े-बूढ़ों की जबान पर है। कहते हैं, अब लोग साक्षात होने पर 'महादेव' शब्द उच्चारण कर उनका स्वागत करते थे। यह प्रतिष्ठा काशी-नरेश को छोड़ कर और किसी को प्राप्त नहीं है। साहु शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसाद ने अपने पिता और वंश की प्रतिष्ठा कायम रक्खी। उनके दो लड़के हुए—ज्येष्ठ शम्भुरत्न और कनिष्ठ जयशङ्कर।

जयशङ्कर का बचपन खुशहाली में बीता। अपने बाद के जीवन में प्रसादजी अपने बाल-काल की स्मृतियाँ अपने इष्ट-मित्रों को सुनाया करते थे। लेकिन पुराने वैभव को लेकर उनमें अभिमान जरा भी न था। लड़कपन में उन्हें कसरत का भी बहुत शौक था। इसीलिए अन्तिम दिनों से एक साल पहले तक उनका शरीर बहुत सुन्दर, तेजोमय और भव्य रहा। जिन लोगों ने उन्हें देखा है उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। उन्हें घुड़सवारी से भी शौक था। वे अच्छे सवार थे। जब उनके मित्र मोटर लेकर उनके पास जाते, तो प्रसादजी कहा करते "सवारी तो घोड़े की है"। एक सहृदय कवि जड़ मशीन से कब सन्तुष्ट हो सकता था?

जयशङ्कर की स्कूली शिक्षा अल्पकालिक रही। स्थानीय क्वीन्स कालेज में वे सातवें दर्जे तक पढ़ सके। इसी समय १२ वर्ष की अवस्था में उन पर और उनके परिवार पर वज्रपात हुआ। पिता का स्वर्गवास हुआ। परिवार का सारा भार ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न पर आ पड़ा। उन्होंने स्कूल में तो नहीं, घर में जयशङ्कर की पढ़ाई की व्यवस्था की। विभिन्न अध्यापकों की सहायता से जयशङ्कर ने अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत की ओर उनकी विशेष रुचि रही। इसी समय उनमें पुरातत्व साहित्य के अध्ययन का बीजारोपण हुआ। जिसके फल स्वरूप आगे चलकर प्रसादजी ने अपने प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी साहित्य को परिपूरित किया।

१७ वर्ष की अवस्था में प्रसादजी पर दूसरी विपत्ति पड़ी। बड़े भाई का भी स्वर्गवास हो गया। सारे परिवार और बड़े व्यवसाय का बोझ कोमल किशोरवय बालक पर आ पड़ा। इस समय उनके सामने दो बड़ी समस्याएँ थीं। एक ओर तो बड़े भाई की अपूर्व दानशीलता और शाही-खर्चों के कारण चढ़ा हुआ पारिवारिक कर्ज। दूसरी ओर नाबालिगपन का लाभ उठाकर कुछ स्वार्थी सम्बन्धी उनकी जायदाद हड़प करने की चेष्टा कर रहे थे। प्रसादजी ने इस सांसारिक घात-प्रतिघात द्वन्द्व और कोलाहल का साहसपूर्ण सामना किया और इसमें सफल भी हुए। सन् १९२९-३० तक उन्होंने समस्त पारिवारिक कर्ज अदा कर दिया।

जीवन-यापन के इन्हीं दिनों में प्रसादजी का व्यक्तित्व बना और संसार के सम्बन्ध में उनकी विचार-धारा की सृष्टि हुई। बाद में गहन अध्ययन के कारण उनमें दार्शनिकता आ गई। इन सब बातों की छाया उनकी रचनाओं में है। यह भी याद रहे, उन दिनों आज की भाँति जनता में राष्ट्रीय जागरण न था। उस समय साधारण वर्गों में आर्य-समाजी आन्दोलन ही क्रान्ति का प्रतीक था। कहा जाता है कि आदमी

के जवानी के दिनों का वातावरण उसके हृदय-पटल पर अमिट रेखा छोड़ जाता है। शायद इसी कारण प्रसादजी के उपन्यासों में आर्य-समाजी क्रान्ति का धुँधला सा चित्र दिखाई देता है।

अपने बड़े भाई के जीवन-काल में ही प्रसादजी को कविता से शौक हो गया था। असमय में ही पड़ने वाली विपत्तियों ने शायद किशोर प्रसाद के कोमल हृदय को आक्रान्त कर दिया था—उसमें टीस उत्पन्न की थी, जिसकी अभिव्यक्ति तुकबन्दियों में हुई। उस अल्हड़ जवानी में दूकान पर बैठकर प्रसादजी बहीखाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ लिखा करते थे। इस पर उनके बड़े भाई रुष्ट भी हुए थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि इससे दूकान के काम में बाधा पड़ती है।

१६०७–८ के लगभग प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ संस्कृत कवियों के अनुसरण पर, ब्रजभाषा की पुरानी शैली में हैं। इसके बाद प्रसादजी ने खड़ी बोली में लिखना शुरू किया। नई शैली की कविता लिखने वालों में प्रसादजी प्रथम हैं। उस काल में उन्होंने अपनी आँखों से नई पीढ़ी के कवियों के प्रति पुराने हिन्दी-साहित्यिकों की प्रतिक्रिया—लोकमत की क्रीड़ा देखी। उन्हीं की प्रेरणा से काशी से 'इन्दु' निकला, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। खेद है, 'इन्दु' असमय में ही बन्द हो गया।

प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताओं का प्रथम संग्रह, कानन-कुसुम लगभग १६११ अथवा १६१२ में प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य प्रारम्भिक कविता पुस्तकें हैं—प्रेम-पथिक और महाराणा का महत्त्व। इन काव्य-ग्रन्थों ने हिन्दी कविता साहित्य में उथल-पुथल मचा दी। आज प्रसादजी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कवि हैं।

प्रसादजी ने कविताएँ ही नहीं लिखी, नाटकों की ओर भी ध्यान दिया। उनका सबसे पहला नाटक सज्जन है। यह अब अप्राप्य है।

प्रारम्भिक नाटकों में उन्होंने काव्य का ही अधिक सहारा लिया है। नाटक के सभी पात्र कविता में बात-चीत करते थे। करुणालय और उर्वशी नाटक ऐसे ही हैं। इसके बाद उन्होंने यह शैली छोड़ दी। प्रसादजी के बाद के नाटक खूब प्रसिद्ध हुए। कविता की भाँति प्रसादजी ने नाटकों में भी युग-परिवर्तन किया। उनके जैसा नाटककार हिन्दी में आज भी कोई नहीं है। प्रसादजी के अधिक नाटक ऐतिहासिक हैं। उनका आधार-स्तम्भ प्राचीन भारतीय सभ्यता है। प्रसादजी के प्रसिद्ध नाटकों में चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कन्द-गुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, ध्रुवस्वामिनी गिने जाते हैं।

सन् १९११ में प्रसादजी की पहली कहानी ग्राम शीर्षक से 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। संवत् १९६९ में प्रसादजी की ५ मौलिक कहानियों का 'छाया' नामक हिन्दी का प्रथम कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ। अब 'छाया' के तीसरे संस्करण में प्रसादजी की सं० १९६९ से १९७५ तक लिखी हुई ११ कहानियाँ संग्रहीत हैं। कविता और नाटकों की भाँति प्रसादजी ने कहानी के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। प्रेमचन्द और सुदर्शन के बाद प्रसाद कथा-क्षेत्र में आए। उनकी कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुईं। फिर भी कहानी-साहित्य में प्रसादजी का अपना स्थान है ये कहानियाँ भी ज्यादातर प्राचीन भारतीय सभ्यता को प्रकाश में लाने वाली हैं। कुछ सामाजिक कहानियाँ भी थीं! अभी थोड़े दिन हुए प्रसादजी की नई कहानियों का संग्रह 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुआ था।

कुछ लोग आश्चर्य करते हैं कि किस तरह प्रसादजी व्यवसाय के साथ ही साहित्य की भी सृष्टि कर सके। इसके सिवा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में भी उनका काफी समय जाता था। इन सब बातों से पता चलता है कि प्रसादजी कितने कर्मशील व्यक्ति थे। गोवर्धन सराय में उनके घर पर तथा नारियल बाजार वाली उनकी दूकान पर साहित्यिकों का ताँता लगा रहता था। एक तरफ वे व्यवसाय को सँभालते

थे, दूसरी तरफ साहित्यिक वार्त्तालापों का भी रस लिया करते थे। अधिकतर वे मण्डली के बीच तटस्थता का भाव ग्रहण करते थे, प्रसादजी चुपचाप सुना करते थे। बीच-बीच में अपनी मधुर मुसकान के साथ दो एक सरस बातों तथा पुरानी जीवन-स्मृतियों के साथ मण्डली को मुखरित कर देते थे।

प्रसादजी विज्ञापन से बहुत डरते थे।* 'इन्टरव्यू', 'सम्मति', विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के उत्तर—इनसे वे दूर रहते थे क्योंकि वे जानते थे कि बीसवीं शताब्दी के पत्रकार कैसे तिल का ताड़ बना लेते हैं। सभाओं और कवि-सम्मेलनों में लोग उन्हें बुलाते लेकिन प्रसादजी हँस कर टाल देते। अगर कोई लेखक उनसे उनके जीवन-सम्बन्धी सामग्री की माँग करता तब भी वे मौनावलम्बन कर लेते। जो लोग उनके सम्बन्ध में लिखते थे उन्होंने कभी प्रोत्साहन का एक शब्द भी नहीं लिखा। उनकी रचनाओं के विरुद्ध लिखने वालों से भी उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा—हमेशा हँसकर उनका स्वागत किया।

प्रसादजी अपनी स्वजाति के उत्थान में योग देने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अपने स्वजातियों के मिलने पर इस विषय पर काफी चर्चा करते और परामर्श देते। वैश्य-हलवाई समाज की हीनावस्था पर वे बहुत दुखी थे। अशिक्षा पर तो उनकी आँखों में आँसू भर आते थे। लेकिन वे कोई काम ढिंढोरा पीटकर नहीं करना चाहते थे। कान्य-कुब्ज वैश्य-हलवाई-महासभा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के सभापतित्व के लिए कई बार उनसे प्रार्थना की गई लेकिन उन्होंने सदैव असमर्थता प्रकट की। सन् २६ में आपने किसी तरह इस पद को कबूल किया लेकिन इसी समय घर में किसी के बीमार पड़ जाने के कारण वे महासभा में भाग न ले सके और थोड़े दिनों बाद सरदारी के पद से इस्तीफा दिया।

---

* प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित प्रसादजी के पद्य से इस कथन की पुष्टि होती है।

सन् १६२५ में प्रसादजी की अत्यन्त प्रसिद्ध कविता-पुस्तक आँसू की रचना हुई। आँसू के बहुत से छन्दों को रचना बगीचे में अथवा गङ्गा के वक्ष-स्थल पर नाव पर हुई। रुई की मिरजई जिस पर सिंघाड़े से कटे हुए, जेब में चश्मे का केस और पेंसिल तथा पाकेट-बुक रखे हुए, उपर से शाल ओढ़ कर—इस तरह की वेश-भूषा में टहलते हुए कवि प्रसाद अक्सर उन दिनों 'आँसू' की पंक्तियाँ गुनगुनाया करते थे।

दिसम्बर १६३१ में प्रसादजी ने सपरिवार कलकत्ता और पुरी आदि स्थानों की यात्रा की। पुरी के समुद्र-तट पर ही उन्होंने अपनी इन सुविख्यात पंक्तियों की रचना की।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

इन दिनों प्रसादजी ने 'जागरण' में काफी दिलचस्पी ली। 'इन्दु' के बाद एक तरह से जागरण' दूसरा पत्र है, जिसके कालमों में प्रसादजी के व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है। पाक्षिक 'जागरण' विनोद-शंकर व्यास प्रकाशित करते थे। प्रसादजी उसके प्रत्येक अङ्क में कुछ मैटर दिया करते थे। 'जागरण' का नाम उन्होने ही रखा। उसे वह खूब फलते-फूलते देखना चाहते थे। उनकी अगणित स्मृतियों के खंडहर में 'जागरण' भी दबा पड़ा है।

'कामायनी' महाकाव्य हिन्दी संसार को प्रसादजी की अन्तिम भेंट है। इसे समाप्त कर वे 'इरावती' उपन्यास लिखना चाहते थे। कामायनी रचना उनके अथक परिश्रम और अटूट अध्ययन के फल स्वरूप है! इसे लिखकर उन्होंने श्री विनोदशंकर व्यास से कहा था—कामायनी लिखकर मुझे संतोष है।

१६३६ में लखनऊ में बड़ी प्रदर्शिनी हुई। वहाँ से लौटने के कुछ ही दिनों बाद २२ जनवरी को प्रसादजी ज्वर से पीड़ित हुए। २१ जनवरी को उनके कफ़ की जाँच कराई गई तो पता लगा प्रसादजी को राजयक्ष्मा

हो गया है। दिनों-दिन उनकी तबीयत गिरती गई। प्रसादजी शायद इस भयानक रोग के अन्तिम परिणाम से भली-भाँति परिचित हो गये थे। डाक्टरों ने उन्हें बाहर जाने की सलाह दी, लेकिन उन्होंने काशी नहीं छोड़ी। कहा—जो कुछ होना होगा यहीं होगा। बीमारी के अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म-रोग भी हो गया। अब उनकी सूखी हड्डियों पर त्वचा का पतला सा आवरण-मात्र रह गया था। वह सुन्दर मनोरम आकृति कितनी भयानक हो उठी थी। ९-१० नवम्बर से हालत बिगड़ने लगी। एकादशी की शाम को हालत ज्यादा खराब हो गई। साँस लेने में बहुत कष्ट होने लगा। डाक्टरों ने कहा—जो कुछ कहना हो कह दीजिए। प्रसादजी ने कहा—साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है। उसे दूर करने की दवा दीजिए। ४॥ बजे जयशङ्कर जी नश्वर शरीर के बन्धन से मुक्त होकर अमरों के लोक में पहुँच गये।

प्रसादजी की कविता

कुछ दिनों के बाद रीतिकाल की विरोध-भावना भी रीति-ग्रस्त हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रीतिकाल के कविन्द नायक, नायिका, रति, अभिसार, सापत्न्य आदि के घेरे में चक्कर लगाते रहते थे उसी प्रकार उनके विरोधी 'कविरत्न' भी देशभक्ति, जाति-सुधार, महाराणा-प्रताप आदि की स्तोत्र-रचना और उसके पाठ में मग्न रहे। हृदय का साहचर्य न होने के कारण उनकी देशभक्ति निष्प्राण थी। उसमें कवित्व नहीं था, उधर समय के प्रभाव-स्वरूप इन लोगों को सौन्दर्य से, एक प्रकार से, घृणा हो गई थी। किसी प्रकार के भी सौन्दर्य, विशेषकर नारी-सौन्दर्य का सृजन, अश्लीलता समझी जाती थी। यह वह समय था जब हिन्दी के काव्यक्षेत्र पर कविराज पं० नाथूराम शङ्कर और साहित्याचार्य द्विवेदीजी का एकछत्र साम्राज्य था—जब छायावाद अन्धकार के गहन स्तरों में पड़ा हुआ स्वप्न देख रहा था। उन्हीं दिनों आज से बहुत पहले, जब छायावाद के देवदूत—पन्त और निराला विद्यालयों में 'काग़ज़ी कुसुम' और 'सिगरेट के धुआँ' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार अपना रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना और सौन्दर्य-विभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों से इस युग का ताना-बाना बुन रहा था। यह कलाकार और कोई नहीं हमारे प्रसादजी ही थे जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने आज हिन्दी की प्रत्येक दिशा में दीपक-सा जला दिया है।

कबिवर प्रसाद कवि, कहानी लेखक, नाटककार, उपन्यास-प्रणेता सभी कुछ थे और सबसे पहले थे कवि। उनकी कहानियाँ कटी-छटी आख्यानमयी कविता ही तो है, उनके नाटक और उपन्यास भी कवित्व से परिपूर्ण हैं, परन्तु यहाँ हमें उनका विवेचन नहीं करना। यहाँ तो हमें उनके उसी साहित्यांश पर विचार करना है जो औरों से, कारलायल

(Carlyle) के शब्दों में, उसी पुराने गँवारू भेद (Old Vulgar distinction) छन्द के कारण विभिन्न है। प्रसादजी ने अपने छोटे-से जीवन-काल में हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को अमूल्य निधियों से आपूर्ण कर दिया। चित्राधार और कानन-कुसुम के अतिरिक्त उनकी सात कविता पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। १—महाराणा का महत्व, २—प्रेम-पथिक, ३—करुणालय, ४—झरना, ५—आँसू, ६—लहर, ७—कामायनी। इनके अतिरिक्त उनके सभी नाटकों में अनेकों रसीले गान भरे पड़े हैं। प्रसाद का अकेला काव्य-साहित्य एक परिमाण की दृष्टि से भी किसी से कम नहीं।

प्रसादजी की कविता का क्षेत्र

जिस किसी ने प्रसादजी की कविता को एक बार भी पढ़ा होगा वह तुरन्त कह देगा कि उनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है। उनकी भावुकता ने अधिकतर प्रेम की परिधि में ही भाँवरियाँ ली हैं। वे संसार को प्रेममय मानते हैं—उनकी धारणा है कि—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

प्रसादजी ने प्रेम के सभी अङ्गों को स्पर्श किया है—उनका प्रेम न तो केवल अतीन्द्रिय एवं आध्यात्मिक प्रेम ही है और न इन्द्रिय-लिप्सा ही। उन्होंने ऐन्द्रिय प्रेम का बहिष्कार नहीं किया। स्वस्थ ऐन्द्रिय प्रेम एक प्राकृतिक आवश्यकता है जिसका हमारे भावुक कवि ने उचित रीति से समादर किया है। उनके चित्रों में, उनके भाव-जगत में ऐन्द्रियता का काफी मान है। वे 'आँख के खेल' को भी उतना ही अनिवार्य समझते हैं जितना 'मन के खेल को'। प्रसादजी को इस बात का अनुभव है कि जीवन में एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य उन्मत्त होकर किसी को आत्म-समर्पण करने के लिए आतुर हो उठता है और

उसे यह सोचने का समय भी नहीं मिलता कि हृदय किसको देना है। उस समय तो—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय, चीह्नने की थी तनिक न चाह !

सुवासिनी के शब्दों में अकस्मात जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कहकर उसको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। × × × फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती है।

देखकर जिसे एक ही बार, हो गए हैं हम भी अनुरक्त
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।

यह प्रेम-रूप आसक्ति है—आँख का खेल है। वृद्ध जन इसे कुछ भी कहें परन्तु युवक जीवन में इसका एक विशेष महत्व है—

यह रूप-आकर्षण विश्व भर में—समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है। प्रसादजी कहते हैं कि संसार में यही एक मात्र परिचय का कारण है!

उषा का प्राची में आभास
सरोरुह का सर बीच विकास
कौन परिचय था क्या सम्बन्ध
गगन-मंडल में अरुण-विलास !

देखिए हमारे आदि पुरुष मनु की श्रद्धा का रूप सौन्दर्य पान कर क्या दशा हुई थी। श्रद्धा की रूप-ज्वाला कैसी थी—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

× × × ×

या कि नव इन्द्रनील लघु शृङ्ग
फोड़कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रांत।

उसे देख कर तपस्वी मनु का मन एक साथ विचलित हो जाता है और वे कह उठते हैं—

कौन हो तुम बसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार !
घन-तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत।

आगे वे ही मनु मनुहारें करते हैं—

कुचल उठा आनन्द, यही लज्जा है
बाधा दूर हटाओ
अपने ही अनुकूल सुखों को
मिलने दो मिल जाओ।'
'और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा-तृप्ति के मिस से।

कवि के इस सौन्दर्य-चित्रण और रूप-आसक्ति में एक जीवन है—एक उन्मादकारी कम्पन है जो भावुक हृदयों को विभोर कर देता है। सुनिए सुवासिनी गा रही है।

आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा !
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप !
लाज के बन्धन खोल रहा !

बिछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात
कौन मधु-मदिरा घोल रहा !

'प्रसादजी की भावुकता यद्यपि अश्लीलता के अस्पृश्य तट को सदैव ही बचाती रही है' फिर भी कहीं-कहीं कुछ असंयत उद्गार उनके अनुरूप नहीं हुए हैं, उदाहरणार्थ—

लगाऊँगा छाती से आज
सुनो प्रियतम अब तुम्हें यहीं।

इसके अतिरिक्त एकाध स्थान पर फारसी-काव्य का अस्वस्थ प्रभाव भी खटकता है। यथा—

'छिल-छिल कर छाले फोड़े'

किन्तु ऐसा उदाहरण उनका प्रारम्भिक कृतियों में ही एकाध मिल जाता है।

इस रूप-मोह के अतिरिक्त 'मन के खेल' की भी व्यञ्जना बड़ी ही मधुर और मादक हुई है। एक प्रकार से यही रूप मोह धीरे-धीरे मन की वस्तु हो जाता है—और प्रेमी प्रेम-पात्र के रूप का नहीं उसके व्यक्तित्व का पुजारी हो जाता है। इस प्रेम में एन्द्रियता नहीं होती—यह भावना-प्रधान (Ideal) प्रेम होता है। उर्मिला के शब्दों में—

'पहिले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे'।
—साकेत

इस प्रेम में प्रेमी अपने अस्तित्व को प्रेम-पात्र के अस्तित्व में मिला देता है—उसे अपनी कोई आकांक्षा नहीं रहती। तब तो बस यही 'अनुनय' रहता है कि—

क्रोध से, विषाद से, दया, पूर्व प्रीति से ही
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए। 'झरना'

उस समय दशा बड़ी विचित्र होती है—

"वाणी मस्त हुई अपने में उससे कुछ न कहा जाता
गद्‌गद् कण्ठ स्वयं सुनता है, जो कुछ है वह कह जाता।"

और प्रेमी आत्म-विस्मृत पूछ उठता है—

"जीवन-धन! यह आज हुआ क्या, बतलाओ मत मौन रहो।
बाह्य वियोग, मिलन था मन का, इसका कारण कौन कहो।"

यही प्रेम बढ़ते-बढ़ते आवेग-पूर्ण हो जाता है और प्रेमी एक साथ चीत्कार कर उठता है—

चमकूँगा धूलि-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा;
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
गृह-पथ में टकराऊँगा!

परन्तु इस प्रेम में आत्म-विरोध की भावना सदैव रहती है—कभी-कभी प्रेमी अपनी असफलताओं को भी सफलता समझ लेता है और प्रेम-पात्र की करुणा में ही अपूर्व आह्लाद को अनुभव कर निकलता है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं करुणा करने का, क्षण भर तुमने समय दिया।

आगे चल कर यह प्रेम लोक सीमा छोड़कर अलौकिक—दिव्य हो जाता है। यह प्रसादजी का उद्देश्य प्रारम्भ में ही था—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, शांत-भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं!!'

उनके इस दिव्य-प्रेम के विषय में समालोचकों की दो सम्मतियाँ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रसादजी अदृष्ट से दृष्ट की ओर आए और

दूसरों की धारणा है कि वे ज्ञात से अज्ञात की ओर गए। वास्तव में कवि ने राम-कृष्ण आदि की भक्ति-विषयक रचनायें भी की थीं परन्तु प्राधान्य उनमें रहस्यात्मक-भावनाओं का ही रहा; उनकी वृत्ति अज्ञात में ही अधिक रमी।

देखिए कवि को उस प्रियतम की झाँकी पहली बार किस प्रकार से हुई—

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।

इसी प्रकार एक बार आँख खोल देखो तो चन्द्रालोक से

रञ्जित कोमल बादल नभ में छागए
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।

धीरे-धीरे यह नशा इतना व्यापक हो जाता है कि कवि को संसार में सर्वत्र ही उस अपूर्व रूप के दर्शन होने लगते हैं—

जल-थल मारुत व्योम में छाया है सब ओर
खोज-खोज कर खोगई मैं पागल प्रेम-विभोर।

कवि बार-बार समझने का प्रयत्न करता है, आखिर यह सब वैभव किसका है—

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते-से संधान!

× × ×

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिचे हुए।

× × ×

सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

परन्तु अन्त में वह यही कह कर चुप रह जाता है।

'हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो, क्या हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम
कुछ हो ऐसा होता भान !'

एक समय था जब आत्मा और परमात्मा सम्बद्ध थे—एकाकार थे। अब दोनों पृथक हैं परन्तु आत्मा को उस महा-मिलन का पूर्ण ज्ञान है—वह कहता है—

यह सब स्फुलिंग है मेरी
उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं अब भी
मेरे उस महामिलन के।

कहीं कहीं अद्वैतवाद अधिक स्पष्ट हो जाता है—

सकल निधियों का वह आधार
प्रमाता सकल विश्व का सत्य
लिए सब अपने बैठा पास
उसे आवश्यकता ही नहीं।

परन्तु वास्तव में उनमें द्वैत भावना का ही परिचय अधिकतर मिलता है। उनके उद्गार भक्ति विषयक ही प्रायः होते हैं। कवि की अनुनय, विनय, रूप-दर्शन, समर्पण आदि की भावनाओं में भक्ति का ही संदेश है।

'प्रार्थना अन्तर की मेरी, जन्म हो निरखूँ तव सौन्दर्य,
यही जन्मान्तर की हो शक्ति, मिले इङ्गित से जीवन मुक्ति ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने प्रेम नामक मनोवृत्ति की पूर्ण व्यञ्जना की है—उसके सभी रूपों को अपनाया है। पं० कृष्ण-शंकर शुक्ल के शब्दों में 'यह प्रेम अलौकिक अवलम्बन का आश्रय ग्रहण कर भक्ति में परिवर्तित हो जाता और लौकिक अवलम्बन पर स्थित हो रतिभाव के अनुकूल पड़ता हुआ चलता है।' प्रसादजी की प्रेमव्यञ्जना में एक अपूर्व उन्माद और कम्पन है—उसमें एक ज्वाला मुखी जलता है—उसमें एक कसक है, वेदना का तीव्र दर्शन है। प्रसादजी की भावुकता व्यापक है वह संसार को अपना समभागी समझती है—

धरणी दुख माग रही थी
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
मैं देख रहा उस मुख को ।

परन्तु यह वेदना प्रेम की मीठी वेदना है, निराशा की कठोर यंत्रणा नहीं। घोर मानसिक व्यथा सहने पर भी कवि आश्वासन देता है—
पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर !
क्योंकि उसे पूर्ण आशा है कि—

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा

और इसीलिए वे प्रेम की मङ्गलकारी शक्ति में विश्वास करते हुए कहते हैं कि—

घने प्रेम तरु तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की, श्रद्धा सरिता कूल।
सिंची आँसुओं से मृदुल है पराग मय धूल !

प्रसादजी और प्रकृति

आरम्भ में यही प्रेम-तत्व प्रसादजी को प्रकृति की ओर ले गया था—और फिर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रकृति के द्वारा प्रेम और प्रेम के द्वारा प्रकृति पर उनकी अधिकाधिक दृष्टि पड़ती गयी। × × × साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने ही सर्व प्रथम उदय होते हुए तारों और खिलती हुई कलियों के सौन्दर्य को देखा और पहचाना।" यह पहिला कवि था जिसने बढ़ती हुई भौतिकता पर सर्व प्रथम असन्तोष प्रकट किया था और प्रकृति के वैभव की ओर संकेत किया था।

नील नभ में शोभित विस्तार;
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर-हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ;
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ।

प्रसादजी प्रकृति के प्रति सदैव एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करते रहे। उन्होंने प्रकृति का जड़ और निर्जीव सौन्दर्य कभी नहीं देखा—उन्होंने उसके अन्तर में एक सजीवता का अनुभव किया है और उसके स्पन्दनों से अपनी हृदय की धड़कन का स्वर मिलाया है। प्रकृति के चन्द्रिका-स्नात, रागरञ्जित रूप को देखकर कवि उन्मत्त हो जाता है—और उसका वर्णन करते-करते आत्म-विभोर हो उठता है। कुछ वर्णन देखिए। प्रकृति का हँसता हुआ चित्र देते हुए, उसके शब्द स्वयं ही किस प्रकार हँसने लगते हैं—

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई!
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद-विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग!
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग-पराग!!
नेत्र निमीलन करती मानों, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि-लहरियों की अँगड़ाई, बार बार जाती सोने!!
सिंधु-सेज पर धरा-बधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में, मान किए सी ऐंठी-सी!

काम के प्रभाव से मानव-जगत ही नहीं प्राकृतिक जगत भी आकुलित हो उठता है। कवि कहता है—

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी? सच कहना!!
भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

उनकी प्रकृति-विषयक अनुभूति कितनी प्रखर है, इसका एक उदाहरण लीजिए—कामायनी में मनु रात्रि से कहते हैं—

किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी-सी साँस
यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जा रही किसके पास!

सायँ-सायँ करती हुई नीरव रात्रि का वर्णन कितना सच्चा और भावपूर्ण उतरा है। प्रसादजी के प्रकृति-चित्रों में मधु और माधुरी का स्रोत बह रहा है। उनमें सोना चाँदी, गुलाली और नीलिमा की अपूर्व छटा है। उनके चित्र मुसकराते नहीं, हँसते हैं—उनके सभी में एक आकुल कम्पन है।

मधु बरसती विधु-किरन है काँपती सुकुमार।

उन्होंने यद्यपि प्रकृति के सुन्दर रूप का ही अंकन अधिक किया है—परन्तु उनका सुन्दर विराट भी है। उनके चित्रों में विस्तार है, व्यापकता है, और गौरव-गरिमा की भावना है। देखिए प्रलय का दृश्य—

लहरें व्योम चूमने उठतीं
चपलाएँ असंख्य नचतीं
गरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूँदें निज संसृति रचतीं।
चपलाएँ उस जलधि-विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थीं
ज्यों विराट बाड़व-ज्वालाएँ
खंड खंड हो रोती थीं।

प्रसादजी की रहस्य-भावना कभी-कभी प्रकृति में प्रियतम का प्रतिबिम्ब भी देखकर मग्न हो जाया करती है। उसे अनुभव होता है—

छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन बीन बजाता
सन्ध्या-कुहुकिन-अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता!

सारांश यह है कि प्रसादजी ने "प्राकृतिक वस्तु का प्रेम तत्व से सम्मिश्रण करके, प्रकृति पुरुष का संयोग का मन्थन कराया है और

प्रकृति की विस्तृत विभिन्नता को प्रेम-तत्व से सन्निहित करके देखा है। उनके प्रारम्भिक प्रकृति चित्र सांकेतिक अधिक होते थे। अतः उनका तो इतना महत्व नहीं परन्तु जहाँ इन दोनों का (प्राकृतिक वस्तु और प्रेम तत्व का उचित सामञ्जस्य हुआ है) वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त मानवीय और उन्नत हो उठा है।"

कवि ने प्रकृति का साधारण रूप में कभी वर्णन नहीं किया है—उनका हृदय सदैव उसे मानवी भावनाओं से आकुलित अनुभव करता रहा है। हाँ, प्रकृति का आपने अपनी अलंकार सामग्री के लिए उपयोग सदैव किया है। प्रकृति प्रसादजी के अलंकार उपकरणों की अक्षय निधि है। 'पुष्पों की पंखड़ियों के सुकुमार कंपन, पुष्करिणी के कमल दल की उल्लास पूर्ण क्रीड़ाएँ पक्षियों के विविध क्रीड़ा कौतुक, उषा की स्निग्ध अरुणिमा आदि प्राकृतिक रमणीय उपादान आपके अप्रस्तुत विधान के सहायक होते हैं। आपके भावक्षेत्र की परिधि का विस्तार इतना अधिक होता है कि प्राकृतिक रमणीय दृश्यों में से साम्य की प्रतिष्ठा के लिए सामग्री पस्तुत करते समय आपको कंजूसी नहीं करनी पड़ती। एक-एक प्रसंग प्राप्त दृश्य के लिए अनेक रमणीय अप्रस्तुत आकर खड़े हो जाते हैं। कामायनी की श्रद्धा के रूप-वर्णन में प्राकृतिक वैभव का विलास है; उसके एक-एक सौन्दर्यावयव के वर्णन के लिए कवि प्राकृतिक राशि-राशि रूप-विभव एकत्रित कर देता है। श्रद्धा की मुसकान माधुरी देखिये—

और उस मुख पर वह मुसकान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम!!

छवि का विलास कितना मादक है। अमूर्त भावनाओं की व्यञ्जना के लिए प्रसादजी के पास प्राकृतिक उपकरणों का अक्षय भण्डार है

देखिये विषाद का चित्रण आपने किस प्रकार प्राकृतिक उपमाओं के सहारे किया है—

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जङ्गली बैठा वन में॥

वही प्रेमतत्व जीवन के कठोर आघातों से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद में किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते हैं जब वह बिम्बसार की भाँति सोच उठता है—

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा है।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।
× × ×
क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।
चञ्चल मानव क्यों भूला तू
इस सांठी में सार कहाँ?

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम परिणति है—परन्तु निषेधात्मक (Negative) वैराग्य नहीं, साधनात्मक वैराग्य जिसका दूसरा नाम विश्वप्रेम और मूलमन्त्र करुणा है। करुणा का चमत्कार प्रसादजी के शब्दों में ही सुनिये—

गोधूली के रागपटल में स्नेहाञ्चल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बून्द भर लाती है॥
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

यही जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रसादजी के दर्शन का सारतत्व है और उन्हें यह करुणा और विश्व प्रेम की भावना कदाचित् बौद्ध दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी संकेत किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसीलिए नहीं कि उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसलिए कि वे विचार-प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार उनकी रचनाओं में गुम्फित रहते हैं। उनकी कामायनी में तो इसका परम विकास मिलता है। वास्तव में महाकवियों की गौरव-कसौटी उनकी भाषा, उनकी अलंकरण-सामग्री, और उनकी कोरी भावुकता नहीं, वरन् जीवन के चिरन्तन संघर्षों और राग विरागों को पहिचानने और सुलझाने की उनकी शक्ति ही है। इसी कारण वाल्मीकि शेक्सपीयर, गैटे, तुलसी, टैगोर आदि विश्व-वन्द्य महाकवि हैं। प्रसादजी ने जीवन के इन विश्वव्यापी संघर्षों को समझा है, उनकी गहन विवेचना की है। विश्व क्या है इसका गम्भीर विवेचन मनु से सुनिये—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंग स्थल है;

देखिये विषाद का चित्रण आपने किस प्रकार प्राकृतिक उपमाओं के सहारे किया है —

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जङ्गली बैठा वन में॥

वही प्रेमतत्व जीवन के कठोर आघातों से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद में किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते हैं जब वह बिम्बसार की भाँति सोच उठता है —

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा हैं।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

× × ×

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।
चञ्चल मानव क्यों भूला तू
इस साठी में सार कहाँ?

वास्तव में वैराग्य ही जीवन की चरम परिणति है—परन्तु निषेधात्मक (Negative) वैराग्य नहीं, साधनात्मक वैराग्य जिसका दूसरा नाम विश्वप्रेम और मूलमन्त्र करुणा है। करुणा का चमत्कार प्रसादजी के शब्दों में ही सुनिये—

गोधूली के रागपटल में स्नेहाञ्चल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बूंद भर लाती है॥
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से॥

यही जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रसादजी के दर्शन का सारतत्व है और उन्हें यह करुणा और विश्व प्रेम की भावना कदाचित् बौद्ध दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी संकेत किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसीलिए नहीं कि उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसलिए कि वे विचार-प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार उनकी रचनाओं में गुम्फित रहते हैं। उनकी कामायनी में तो इसका परम विकास मिलता है। वास्तव में महाकवियों की गौरव-कसौटी उनकी भाषा, उनकी अलंकरण-सामग्री, और उनकी कोरी भावुकता नहीं, वरन् जीवन के चिरन्तन संघर्षों और राग विरागों को पहिचानने और सुलझाने की उनकी शक्ति ही है। इसी कारण वाल्मीकि शेक्सपीयर, गैटे, तुलसी, टैगोर आदि विश्व-वन्द्य महाकवि हैं। प्रसादजी ने जीवन के इन विश्वव्यापी संघर्षों को समझा है, उनकी गहन विवेचना की है। विश्व क्या है इसका गम्भीर विवेचन मनु से सुनिये—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंग स्थल है;

है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।
वे कितने ऐसे होते हैं,
जो केवल साधन बनते हैं
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं।

जीवन की समस्या पर जब मनु अटक जाते हैं और कहने लगते है—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय! लिया है देख नहीं सन्देह।
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह॥

तो श्रद्धा की शीतल वाग्धारा कातर विश्व को आश्वासन देती है।

"जिसे तुम समझे थे अभिशाप

× ×

विषमता की पीड़ा से ग्रस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही सुख-दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

× ×

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।

आगे चलकर श्रद्धा ने जो भाव, कर्म और ज्ञान तीनों क्षेत्रों की भावपूर्ण व्याख्या की है वह दिव्य है, अभूतपूर्व है। वह प्रसादजी को एक दम विश्व-कवियों में स्थान दिला देती है। इन मनस्तत्त्वों का इतना कवित्व पूर्ण वर्णन संसार-साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। यहाँ दर्शन और कविता का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से हुआ है। कवि की सांकेतिक काव्य सामग्री और मूर्ति-विधायिनी कल्पना ने अरूप में एक साथ दिव्य रूप भर दिया है।

देखिये आपके सन्मुख वही भाव-क्षेत्र दिखाई पड़ रहा है—

'वह देखो रागारुण है जो, ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।'
'शब्द, स्पर्श, रस रूप गंध की, पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों रूपवती रंगीन तितलियाँ।'

× × × ×

'घूम रही है यहाँ चतुर्दिक, चल चित्रों-सी संसृति छाया;
जिस आलोक बिन्दु को घेरे, वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव चक्र यह चला रहा है, इच्छा की रथ-नाभि घुमाता;
नवरस भरी अराएँ अविरल, चक्रपाल को चकित चूमतीं।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा, रागारुण चेतन उपासना;
माया-राज्य! यही परिपाटी, पाश बिछाकर जीव फाँसना।

× × × ×

भाव भूमिका इसी लोक की, जननी है सब पाप-पुण्य की;
ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति बन, गल ज्वाला से मधुर ताप की।

एक झाँकी श्यामल कर्मलोक की देख लीजिए—

"मनु, यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ कुछ अंधकार-सा:
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूमधार-सा।

× × × ×

श्रममय कोलाहल, पीड़न-मय, विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

× × × ×

नियति चलाती कर्म-चक्र यह, तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणिपाद-मय पंच भूत की, यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।

उपरोक्त वर्णन में कवि ने आधुनिक संसार के संघर्ष की सजीव व्याख्या की है जो स्वयं बोल रही है।

आगे ज्ञानलोक की आभा है—

प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है, सुख-दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम चलता है, बुद्धि चक्र जिसमें न दीनता।
अस्ति नास्ति का भेद निरंकुश करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते, कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

× × × ×

अपना परिमित पात्र लिये ये, बूँद-बूँद वाले निर्झर से,
माँग रहे हैं जीवन का रस, बैठ यहाँ पर अजर-अमर से।

× × × ×

यहाँ अछूत रहा जीवन रस, छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा, तृषा ! मृषा, वंचित होने दो।

अन्त में इस त्रिपुर दाह श्रद्धा की स्मित ज्वाला के द्वारा कराकर कवि इस विषम समस्या को हल कर देता है। वास्तव में मनु और श्रद्धा की इस कहानी में मानव जीवन के मनस्तत्व की विवेचना पूर्ण रूप से हुई है और श्री नन्ददुलारे के शब्दों में 'मानस का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों बाद हुआ है।'

क्षेत्र-विस्तार

जो कुछ अब तक प्रेम, प्रकृति और दर्शन के विषय में कहा गया है, उससे प्रसादजी की भावुकता पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ा होगा। परन्तु हमारे कवि की भावुकता इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती। उनका क्षेत्र विस्तृत है। यहाँ अधिक न कह कर इस विषय के दो तीन उदाहरण ही देना पर्याप्त होगा। कामायनी में एकाध स्थान पर वात्सल्य की भी बड़ी मधुर व्यञ्जना हुई है—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी को जलने को धधक उठी बुझती धूनी !

× × × ×

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है, नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

एक उदाहरण कवि की देशभक्ति भावना का और देखकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ। प्रसादजी भारतवर्ष के अतीत गौरव के पुजारी थे। उनकी रचनाओं में जातीयता और देश प्रेम की भावनायें ओत प्रोत मिलती हैं। उनकी आत्मा अपने मातृ-भूमि के शब्दों में प्रायः गाया करती है—

"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक हार !
जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक
व्योम तम पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीत
सप्त स्वर सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम सङ्गीत !

× × ×

वही है रक्त वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान,
वही है शांति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान
जिएँ तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष !

कला

प्रसादजी—जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ—स्रष्टा हैं। वे मौलिक कलाकार हैं। दूसरों के निर्दिष्ट पथ पर चलना उन्हें कभी पसन्द नहीं आया और प्रारम्भ से उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पना, अन्तर्ग्राहिणी भावुकता, और रंगीन दृष्टि द्वारा अपना एक नवीन पथ निर्माण किया है। उनकी कला, उनकी शैली अपनी ही है। प्रसादजी की कला की, अन्य सभी महान कवियों की भाँति, सब से प्रमुख विशेषता उनकी चित्रमयता है। उनकी कल्पना इतनी रंगीन एवं अन्वीक्षणी-शक्ति इतनी सजग होती है कि प्रत्येक भावना प्रत्येक वस्तु का चित्र उनके मन पर स्पष्ट रूप से उतर आता है जिसको वे अपनी कुशल व्यञ्जना-शक्ति और चित्र भाषा की सहायता से ज्यों का त्यों चित्रित कर देते हैं! प्रसादजी के काव्य में अनेकों चित्र भरे पड़े हैं। उनकी रेखाएँ पुष्ट और वर्णों के विकास भास्वर हैं। साथ ही उनमें वैज्ञानिक सूक्ष्मता भी सदैव मिलेगी। देखिए एक चित्र बढ़ती हुई अंधेरी का—

वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा
स्तर स्तर जमती पीन हुई।

उनके मानवीय चित्रों में भी यही बात है। आदि पुरुष मनु का पौरुष मय चित्र लीजिये—

अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार।
चिन्ता कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता, भीतर मधुमय स्रोत।

आगे श्रद्धा मुखमण्डल की आभा है—

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।

यही श्रद्धा गर्भालसा होकर कैसी हो जाती है—

केतकी-गर्भ सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह!
मातृत्व बोझ से झुके हुये
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

प्रसादजी की कल्पना साधारण-से-साधारण वस्तु का अंकन कितने वैभव के साथ कर देती है इसका एक उदाहरण देखिये। श्रद्धा तकली घुमाती हुई काली ऊन की पट्टी बना रही है। कवि उसका वर्णन करता है—

'सोने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उसास;
स्वर्गङ्गा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।

इसी प्रसंग में एक छवि इड़ा के सांकेतिक चित्र का भी अवलोकन कर लीजिये। कवि की सांकेतिक पदयोजना द्वारा इड़ा का चित्र अत्यन्त सजीव और मूर्तिमान हो गया है—यहाँ पर उसकी कल्पना की मूर्ति-विधायिनी शक्ति की क्रीडा देखिये—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल,
गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल था एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान,

था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए,
त्रिवली थी त्रिगुण तरङ्ग मयी, आलोक वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल।

अमूर्त भावनाओं का भी कुशल कलाकार ने स्थान-स्थान पर बड़ा सजीव अंकन किया है। लज्जा का वर्णन कवि करता है।

वैसो ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुये;
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुये।
× × ×
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे ?

इस प्रकार की (myth Making) मूर्ति-निर्माण विधि का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। झरना में 'विषाद' का चित्र भी ऐसा ही है। यह विशेषता अंग्रेजी कवि शैली में प्रमुख रूप से पाई जाती है। उन्होंने भी ऐसे अनेकों चित्र खींचे हैं। शीतकाल का वर्णन उनका ऐसा ही है—

For winter came : The wind was his whip :
One choppy finger was on his lip.
× × × ×

इनमें भाषा की व्यञ्जनाशक्ति और मूर्तिमत्ता की सहायता रहती है। निम्नलिखित पंक्तियों में मूर्त चित्र द्वारा सौन्दर्य की विभूतियों का वर्णन व्यंग्य है—

तुम कनक किरन के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते—
हे लाज भरे सौन्दर्य्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में,
मधु-सरिता-सी यह हँसी तरल,
अपनी पीछे रखते हो क्यों ?

इन पूर्ण चित्रों के अतिरिक्त प्रसादजी के काव्यों में रेखा-चित्र अथवा शब्द-चित्र भी अनेकों बिखरे मिलेंगे। इनमें चित्र व्यक्त नहीं व्यंग्य होंगे अर्थात् शब्दों द्वारा उसका अङ्कन तो नहीं होगा परन्तु फिर भी वस्तु का चित्र मन पर स्पष्ट उतर आएगा। दो एक का अवलोकन कीजिए—

१—निर्जन गोधूली-प्रान्तर में, खोले पर्ण-कुटी के द्वार।
दीप जलाये बैठे थे तुम, किए प्रतीक्षा पर अधिकार॥

यहाँ 'दीप जलाये बैठे थे'—और 'किए प्रतीक्षा पर अधिकार' इन दो वाक्यांशों द्वारा पाठकों के मन पर सुनसान बीहड़ में बैठे हुए व्याकुल चित्त किन्तु बाहर से शान्त और संयत वियोग का चित्र साफ प्रतिबिम्बित हो जाता है।

२—'कालिमा घुलने लगी धुलने लगा आलोक' इस एक रेखा से प्रसादजी ने हटते हुए बादलों और निखरती हुई चाँदनी का कितना स्पष्ट चित्र खींच दिया है।

एक शब्द-चित्र (One Word-Picture) भी उनके काव्य में स्थान-स्थान पर जड़े हुए मिलेंगे। प्रलय की आँधियों का एक चित्र है—

अरी आँधियो ! ओ बिजली की
दिवा-रात्रि ! तेरा नर्तन !

बिजली की दिवा-रात्रि ! चित्रोपमता की पराकाष्ठा है !

सचित्र विशेषण इस युग की काव्य-कला की एक विशेषता है। कविवर पन्त में इस कला का चरम विकास मिलता है। प्रसादजी के विशेषण भी बड़े ध्वनिमय, व्यञ्जक और सचित्र हैं। उनमें भाषा की शक्ति और कल्पना का संयम मिलता है। चिन्ता के कुछ विशेषण लीजिए—

ओ चिन्ता की पहिली रेखा,
अरे विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प-सी मतवाली,
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !

× ×

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी !

नक्षत्र के लिए कवि ने 'तम के सुन्दरतम रहस्य !' अनन्त की गणना आदि बड़े भव्य विशेषण दिए हैं। इसी प्रकार रजनी का 'इन्द्र-जाल जननी !' विशेषण कितना व्यञ्जनापूर्ण है। ये विशेषण कहाँ तो चित्रमय होते हैं, जैसे बिजली की दिवारात्रि !' कहीं कल्पना प्रधान, जैसे उपर्युक्त समस्त उदाहरणों में—और कहीं भावुकता की विभूति होते हैं—जैसे मनु श्रद्धा से कह उठते हैं 'कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज !' मनु का हृदय एकाकीपन के भार से आक्रान्त था, उसमें एक विप्लव था जो किसी शीतल वाग्धारा की खोज में था। श्रद्धा को उन्होंने इसी रूप में पाया। भावुकता कितनी संकेतपूर्ण है।

अब एक दृष्टि-पात प्रसादजी की अप्रस्तुत योजना पर और कर

लिया जाय। प्रसादजी का प्रकृति-निरीक्षण बड़ा विस्तृत है—उनकी अलंकरण सम्पत्ति बड़ी विशद है। वे प्राकृतिक क्षेत्र से नवीन से नवीन उपमानों का बिना किसी कठिनता के चयन कर लेते हैं—साथ ही प्राकृतिक व्यापारों का भी उनके अप्रस्तुत विधान में काफी योग है। इसका विवेचन पहले ही कर चुका हूँ। प्रसादजी ने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य विधियों का सुन्दर समन्वय किया है। दो एक उपमाओं के नमूने देखिए। मनु कहते हैं—

१—आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अङ्क का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ!

२—किरण की उपमाएँ कितनी व्यञ्जक हैं—

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन!

३—प्रतिमा में सजीवता-सी बस गई सुछवि आंखों में।

कहीं-कहीं शेली की भाँति प्रसादजी मूर्त वस्तुओं के स्पष्टीकरण के लिए अमूर्त उपमाएँ प्रस्तुत करते हैं—

'बढ़ने लगा विलास वासना-सा, वह नीरव जल संघात!'

निम्न पंक्तियों में रूपक का बड़ा ही सचित्र प्रयोग हुआ है। उसमें कवि की चित्र-ग्राहिणी कल्पना का महत्व प्रकट होता है—साथ ही श्लेष, उपमा, रूपक आदि का प्रयोग भी पुरानी दृष्टि से श्लाघ्य है!

समय विहग से कृष्ण-पक्ष में रजत-चित्र-सी अंकित कौन
तुम हो सुन्दरि तरल तारिके! बोलो कुछ बैठो मत मौन?

प्रसादजी ने अपने नवीन ढंग से भी कुछ अलङ्कार-योजना की है—

विकसित सरसिज वन-वैभव, मधु ऊषा के अञ्चल में
उपहास करावे अपना जो हँसी देखले पल में

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य अलङ्कारों का प्रयोग भी नवीनता के साथ किया गया है। विशेषण-विपर्य्यय, मानवीकरण, आदि अलङ्कार कवि की अभिव्यञ्जना शक्ति और भाषा की वक्रता वैभव बढ़ाते हैं।

१—यह मूर्छित मूर्छना आह-सी नकलेगी निस्सार!

२—यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे फिर ठुकराओ।

मानवीकरण—'मेरी यात्रा पर लेती थी नीरवता अनन्त अंगड़ाई' आदि शत-शत उदाहरण हैं।

यह तो रही चित्रमयता की बात। अब संगीत माधुरी का भी रसास्वादन कर लें। प्रसादजी नाटककार हैं—उन्हें नृत्य और गीत का व्यावहारिक ज्ञान है। साथ ही उनकी छन्द योजना बड़ी विचित्र और पूर्ण है। उन्होंने ही छन्दों की सबसे पहले अपने ढङ्ग से रचना की थी। उनकी गीतियाँ स्वर और लय पर नृत्य करती हैं—कहीं-कहीं नृत्य के साहचर्य के कारण शब्दों में एक विचित्र गति आ जाती है। यद्यपि उनकी छन्द-रचना में पन्तजी की-सी कला नहीं मिलती, परन्तु उनमें अपनी एक विशेष संगीतमय बिछलन है। कवि ने भिन्न-भिन्न छन्दों का सफल प्रयोग तो किया ही है; साथ ही बहुत से छन्दों के सम्मिश्रण से उन्होंने भावों की गति के साथ सामञ्जस्य बैठाया है। उनके छन्द वीर भावों के साथ अकड़ कर चलते, विलास भावनाओं के साथ इंगित-पूर्ण नृत्य करते, और व्यथा-वेदना के साथ कराहते हैं। तीनों प्रकार के उदाहरण देखिए—

१—हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त-पुण्य पंथ है, बढ़े चलो! बढ़े चलो!

२—हे लाज भरे सौन्दर्य बतादो मौन बने रहते हो क्यों ? यहाँ शब्दों की गति ही इस प्रकार है कि 'क्यों' के उपरान्त एक साथ 'छम' की ध्वनि अपने आप सुनाई पड़ जाती है।

३—मोड़ मत खिंचे बीन के तार !
निर्दय अंगुली अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार !

इसी प्रकार जब वर्णन-धारा वेगवती होती है तो छन्दों में एक प्रवाह मिलता है। कामायनी में कवि की छन्द योजना का विलास दर्शनीय है।

भाषा

आरम्भ में प्रसादजी की 'पथरीली भाषा बहुत दिनों तक लोगों की समझ में नहीं आई और उस पर समालोचकों के कुलिश-प्रहार निरन्तर होते रहे। इसका कारण उनकी तत्सम-प्रियता थी। उन्होंने संस्कृत की कोमल कान्त शब्दावली का प्रयोग भाषा के अलंकृत करने के लिए शुरू किया है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा में लचरपन भी मिलता है—झरना की भाषा अधिक व्यवस्थित नहीं है—कहीं-कहीं व्याकरण की त्रुटियाँ भी हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया प्रसादजी के हाथों में भाषा की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, सांकेतिकता और चित्रमयता बढ़ती गई और उसकी स्नायुएँ भी पुष्ट होती गईं। कामायनी की भाषा मधुमय शब्दों से सनी होने के अतिरिक्त प्रसंगानुकूल ओजपूर्ण और सुगठित है। उसमें 'कंकण क्वणित रणित नूपुर ध्वनि' की रुनझुन के साथ प्रलय-लहरों की झकोरें भी हैं। प्रसादीय भाषा की एक और विशेषता उसकी वक्रता और मौलिक प्रयोगों की विविधता है। सभी प्रतिभाशाली कलाकारों की तरह उन्होंने भाषा से अनुचरी की भाँति सेवा ली है। सारांश यह है कि प्रसादजी

की भाषा उनके परिपूर्ण क्षणों की वाणी है—यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उनकी काव्य भाषा में गद्यभाषा की-सी प्रौढ़ता नहीं है।

अन्त में, कहना होगा कि प्रसादजी हिन्दी-जगत में अमर शक्तियाँ लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनकी प्रतिभा सर्वथा मौलिक थी उन्होंने साहित्य के जिस अंश को स्पर्श किया उसी को सोना बना दिया। उनका महत्व ऐतिहासिक तो है ही—एक प्रकार से आधुनिक युग के निर्माता भी हैं। उन्होंने ही सबसे पूर्व शुष्क उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खड़ा किया—या यों कहिये कि झूठी भावुकता (Sentimentalism) के विरुद्ध सच्ची रसिकता का आदर्श उपस्थित किया। अकर्तृत्व (passivity) के युग में आत्मव्यञ्जना (subjectivity) की पुकार करने वाले वे कवि थे। उन्होंने एक नवीन कला और नवीन भाषा हिन्दी को प्रदान की। ऐतिहासिक महत्व के अतिरिक्त काव्य के चिरन्तन आदर्शों के अनुसार भी उनका स्थान बड़ा ऊँचा है। एक चिन्तन प्रधान व्यापक एवं करुण अनुभूति जिसमें रङ्गीन अद्भुत-प्रिय कल्पना का वांछित योग रहता है उनकी अपनी विशेषता है।

मातृगुप्त के आदर्शानुसार प्रसादजी की कविता 'वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण सङ्गीत गाती है। अन्धकार का आलोक से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध करना उसका मुख्य उद्देश्य है।'' कामायनी का कवि हिन्दी के किसी भी कवि की समकक्षता प्राप्त कर सकता है।

कविवर प्रसाद

(प्रसादजी की कवि-कृतियों का विकास-क्रम)

कलाकार जयशङ्करप्रसादजी की प्रत्येक रचना में कवि-हृदय का स्पन्दन स्वभाव-रूप से विद्यमान है। प्रसादजी का जीवन काव्यमय था। वे एकाङ्गी थे—उनका साहित्य सर्वाङ्गीण है। जयशङ्करप्रसाद के पूरे अध्ययन के लिए उनका कवि-रूप समझना अनिवार्य है। कहानियों, नाटकों तथा उपन्यासों में उनकी काव्यात्मा अप्रकट रूप से ध्वनित हुई है।

कवि प्रसादजी का खड़ी बोली कविता के विकास के इतिहास में प्रमुख स्थान है। आपकी कविता उस समय आविर्भूत हुई जिस समय हिन्दी का द्विवेदी-युग प्रारम्भ हो रहा था। यह वह युग था जब हिन्दी-काव्य को ब्रजभाषा की मधुरता के सामने अपना अस्तित्व बनाना पड़ रहा था। स्वयं प्रसादजी ने सर्व प्रथम ब्रजभाषा में अपनी प्रारम्भिक कविताएँ लिखीं। उन्होंने संस्कृत और बंगला से आत्म-प्रेरणा पाई और हिन्दी कविता की पुरानी शैली से पृथकत्व प्राप्त किया। संवत् १६६६ में प्रसादजी की ब्रजभाषा की रचनाओं का एक संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस संग्रह में तीन बड़ी इतिवृत्तात्मक कविताओं के 'अयोध्या का उद्धार' 'बन मिलन' और 'प्रेम राज्य' जो कि प्राचीन कथानकों के आधार पर लिखी गई थी कुछ समस्या पूर्ति के ढंग की भी कविताएँ हैं। यह संग्रह प्रसादजी के काव्य-विकास को समझने के लिए आवश्यक है, अन्यथा इसका स्वतन्त्र महत्व अधिक नहीं है किन्तु इनमें भी कवि की धार्मिक तथा रहस्यात्मक अभिरुचि का पता चलता है।

खड़ी बोली के क्षेत्र में, प्रसादजी द्विवेदी-युग के प्रभाव से अलग रहे। आपकी कविताएँ भी अधिकतर 'सरस्वती' में न छपकर 'इन्दु'

मासिक-पत्र में प्रकाशित होती थीं। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'कानन कुसुम' के नाम से निकला। प्रसादजी ने भी मुख्यतः प्रेम तथा शृङ्गार पर रचनाएँ कीं परन्तु आपने ब्रजभाषा काव्य से कई विभिन्नतायें भी रखीं। प्रसादजी ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में न लेकर आलम्बन के रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रसादजी का संस्कृत का अध्ययन बहुत बढ़ा हुआ था। इसीलिए आपने उस समय एक नवीन पथ की ओर पैर बढ़ाया। आपने संस्कृत कवियों की ध्वन्यात्मक शैली लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में अभिव्यक्ति की एक नवीन शैली प्रचलित करने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रसादजी एक नवीन भावाभिव्यक्ति-शैली लेकर आगे बढ़े। आपकी कविताएँ जनता को रुचिकर प्रतीत हुईं; उसने आपकी एक नवीन शैली का अनुकरण किया।

प्रसादजी को साहित्यिक शुद्ध अतुकान्त कविता का जन्मदाता मानना चाहिए। आपने अतुकान्त कविता किसी साहित्यिक सिद्धान्त वश नहीं अपितु उसको अधिक स्वाभाविक तथा वार्तालाप गीति-नाट्य के योग्य बनाने के लिए ही लिखा। प्रसादजी ने अतुकान्त कविता की एकतानता (monotony) के दोष से बचाने के लिए विभिन्न छन्दों में लिखा है। उन्होंने गीति-नाट्य अथवा प्रबन्ध काव्य में, पात्रों के वार्तालाप में प्रवाह तथा स्वाभाविकता लाने का अतुकान्त कविता द्वारा जो प्रयत्न किया उसमें वे सफल हुए तथा अन्य कवियों ने भी आपका अनुकरण किया। राय कृष्णदास के 'उपवन' तथा पन्तजी की 'ग्रन्थि' इसी अनुकरण के परिणाम हैं। आगे चलकर 'निराला' ने भी अतुकान्त गीत लिखे। प्रसादजी ने भी अपने 'लहर' नामक संग्रह में और भी कई प्रौढ़ अतुकान्त रचनाएँ लिखीं। 'निराला' और 'प्रसाद' मानों एक ही कण्ठ के दो उद्‌गार हैं।

प्रसादजी की छोटी-छोटी अतुकान्त रचनाएँ निकलीं। एक का नाम है 'महाराणा का महत्व'। इसमें प्रसादजी ने महाराणा प्रताप के उदार चरित्र का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता, सरलता तथा सफलता के साथ किया है।

इस ऐतिहासिक काव्य में अतुकान्त छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण इसमें कथा-प्रवाह और वाग्विदग्धता का पूरा समावेश हुआ है। प्रताप की आँखों की मुद्रा का वर्णन देखिये:—

"दोनों आँखें उठ-उठ कर बतला रही
जीवन-मरण समस्या उनमें है भरी॥"

महाराणा के उन्नत एवं पवित्र चरित्र की स्वीकृति उनके शत्रुओं के भी मुख से कराई गई है। यथा:—

"सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन में पला हुआ वह वीर है।"

इसी पुस्तिका में रात्रि-वर्णन की ये सुन्दर पंक्तियाँ आई हैं—

तार हीरक-हार पहन कर, चन्द्रमुख—
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
शाही महलों के ऊँचे मीनार से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका—
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।"

"करुणालय" शीर्षक प्रसादजी की दूसरी छोटी रचना है। यह एक अतुकान्त गीति-नाट्य है और इसका कथानक वैदिक काल के पश्चात् किये गये भयंकर नरमेध-यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। चरित्र-चित्रण करने में कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है। केवल कथानक को सीधे ढंग से सुन्दर शब्द में लिपिबद्ध कर दिया गया है। 'रोहित' और 'शुनः शेफ' के चरित्र सुन्दर बन पड़े हैं। रोहित के निम्नस्थ शब्दों में मानो स्वयं प्रसादजी ही

"चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है॥"

और भी—

"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया

रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर-कर्म ! अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना है ?"

ऐसी ही परिस्थिति में आपकी दूसरी रचना "प्रेम-पथिक" निकली। संवत् १९६२ में प्रसादजी ने इसे व्रजभाषा में लिखा था। परन्तु संवत् १९७० में आपने उसका 'परिवर्तित, परिवर्धित तुकान्त-विहीन' रूप कर दिया।

"प्रेम-पथिक" में अतुकान्त छन्द घनाक्षरी प्रयुक्त हुआ है। उसमें प्रवाह, लय, संगीत तथा ध्वनि सभी कुछ है। 'प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ जितनी सरल हैं, वाद की उतनी ही गूढ़ तथा कठिन, "प्रेम-पथिक" के कथानक में सरल प्रेम की एक कथा है।

बीच-बीच में कवि ने सुन्दर वाक्यों द्वारा भाषा पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया है। प्रसादजी की निम्न पंक्तियाँ हमें मुग्ध कर लेती हैं—

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।"

× × ×

"नीलोत्पल के बीच सजाए मोती-से आँसू के बूँद !
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर-दुःखी के परम उपाय।"

× × ×

उपर्युक्त काव्य-पुस्तकें कोई विशेष महत्व की नहीं। फिर भी कवि प्रसाद का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए इनके सम्बन्ध में जानना इसीलिए आवश्यक है कि वे कवि के अपरिपक्व मस्तिष्क से परिचय कराती हैं; दूसरे उनमें अनेकों स्थलों पर स्वतन्त्र रूप से बड़ी उच्चकोटि की कविताएँ हैं। फिर हिन्दी की अतुकान्त कविता के

इतिहास में "करुणालय" आदि रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यहीं से अतुकान्त कविता का मात्रिक वृत्तों में प्रयोग आरम्भ होता है। उनमें गति, प्रवाह, रस, आरम्भ और अवसान सभी कुछ है।

उपरोक्त छोटी किन्तु महत्वपूर्ण युग-निर्मात्री काव्य-पुस्तकों के पश्चात् तो प्रसादजी का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ। वे इतिहास से मनोवृत्तियों की ओर झुके। आगे चल कर उनकी कविताएँ इतिवृत्तात्मक न होकर मनोवृत्तात्मक होती गईं। बाह्य से अन्तर्जगत अधिक सत्य भासित होने लगा। कवि की दृष्टि शरीर से आत्मा पर पहुँची।

कविवर प्रसादजी केवल अतुकान्त कविता के आरम्भकर्त्ता ही न थे अपितु उन्होंने हिन्दी में "छायावाद" का भी श्री-गणेश किया। इस विषय की कविताएँ "झरना" में संकलित हैं। "झरना" में हमें सर्वप्रथम प्रतिभावान कवि के दर्शन होते हैं, भाषा, भाव, छन्द, संगीत आदि सभी दृष्टियों से "झरना" एक अनुपम काव्य-कृति है। उससे एक युग का प्रारम्भ होता है। इसीलिए "झरना" काव्य-इतिहास का एक स्वर्ण पृष्ठ है।

"झरना" खड़ी बोली में भावपूर्ण कविता करने का प्रथम सफल प्रयास है। यद्यपि इसमें संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की कमी है फिर भी छन्दों की विभिन्नताएँ पुस्तक को एक स्वर होने से बचाती हैं। 'झरना में कवि के विभिन्न समय एवं परिस्थितियों में निकले हुए स्वतन्त्र उद्गार हैं प्रत्येक कविता की आत्मा में मूलतः प्रेम है। अपनी विभिन्न मनोदशाओं (Moods) और भावों की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना इस पुस्तक में की गई है। इतनी सुबोध भावात्मक कविता उस समय हिन्दी में नहीं लिखी जाती थी। इसीलिए "झरना" आज भी हमारे लिए एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

"झरना" में कुल ४८ कविताएँ हैं। प्रत्येक में भावुकता एवं

प्रेमसूत्र दर्शनीय है। अनेकों कविताएँ बहुत ही सुन्दर तथा उच्चकोटि की हैं। स्थान-स्थान पर एक नैसर्गिक सत्ता की ओर अनिश्चित संकेत है। इसमें "छायावाद" अपनी प्राथमिक तथा अविकसित अवस्था में विद्यमान है। कवि "झरना" को देख कर उसके सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु—

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी
बात कुछ छिपी हुई है गहरी॥
कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना—"

वस्तु को उसकी दृष्टिगोचर संकुचित वास्तविकता में न देखकर उसमें कुछ आध्यात्मिक संकेत पाना या प्राकृतिक वस्तुओं में मानवी भावों की छाया देखना छायावाद की विषयगत विशेषताओं में से है। इस कविता में झरना केवल जल प्रपात न रह कर कुछ गहरा आध्यात्मिक संकेत देने लग जाता है।

कवि को 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' का भान होता है। वह अपने काव्य-विषय से बाहर एक ऐसे छाया-लोक में पहुँच जाता है जहाँ की बात को हम साँसारिक साधारण भाषा में नहीं व्यक्त कर सकते, केवल संकेत भर कर देते हैं। ऐसे 'मूड' का चित्रण "झरना" की अनेकों कविताओं में है।

इसी प्रकार 'किरण' शीर्षक कविता में छायावाद की झलक है। प्रसादजी के लिए 'किरण' "किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती-सी" है। प्रकृति में "विषाद की मूक छाया है। इसमें हम छायावाद

का शैली को भी अधिक विकसित रूप में पाते हैं, देखिये—

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन।

\+ + +

सुदिन मणि वलय विभूषित उषा—सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिलाती प्रेम निकेत।
चपल ठहरो ! कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

इस कविता में किरण को उसके केवल भौतिक रूप से ही नहीं लिया है वरन् उसको किसी अज्ञात विश्व विकल-वेदना-दूती-सी-सूर्य रूपी वलय से विभूषित उषा सुन्दरी के कर का संकेत कहा है। इसमें प्रकृति का मानवीकरण भी काफी है 'चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम ....'। 'धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश' में मूर्त की अमूर्त से तुलना के और प्रभाव-साम्य के शैली गत के उदाहरण कुछ प्रचुरता से मिलते हैं ऐसे छायावादी शैली में विशेष रूप से मिलते हैं।

दीप के प्रति कवि की एक सुन्दर उक्ति देखिए—

किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को।

"झरना" की अनेकों कविताओं में प्रसादजी के प्रेम-पूर्ण आशामय उद्‌गार हैं। कवि के लिए संसार आशामय है। 'मिलन' कविता में ये पंक्तियाँ हैं—

"मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह असल जीवन सफल अब हो गया॥

कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

"झरना" से "लहर' तक आते-आते प्रसाद की कविता में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो चुका है। भावों की प्रौढ़ता, विचारों की गम्भीरता और कल्पना की व्यञ्जना—सभी कुछ "लहर" में एकत्रित हैं। "झरना" में कवि की आत्मा जिन भावों को लेकर प्रस्फुटित हुई थी, उन्हीं भावों की प्रतिध्वनि "लहर" में है। सूत्र एक ही है; परन्तु उसके व्यक्तीकरण में भेद है। वेदना की मात्रा अधिक हो गई है। शुद्ध कल्पना का समावेश हुआ है और आध्यात्मिकता से विराग ले लिया गया है।

"लहर" में शीर्षक विहीन अनेकों प्रकार की कवितायें संग्रहीत हैं। अन्त में "शेरसिंह का शस्त्र समर्पण", "पेशोला की प्रतिध्वनि", और "प्रलय की छाया" तीन अतुकान्त कवितायें हैं : बौद्ध इतिहास की घटनाओं और बौद्ध-स्थलों पर भी दो एक सुन्दर कविता संकलित हैं। "अरी वरुणा की शान्त कछार" से प्रारम्भ होने वाली कविता में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है! देखिये प्रसादजी की विचार-धारा। "लहर" की कविताओं में काव्य-जगत् की सुन्दरता सुन्दर रूप में उतर आई है। एक बहुत ही मनोरम प्रभात सम्बन्धी काल्पनिक चित्र इस प्रकार है।

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।"

परन्तु कवि प्रसाद के प्रेमोद्गारों को यदि हम शत-शत धाराओं में बहते, सुन्दर चन्द्रिका की किरणों पर एक काल्पनिक जगत् में विचरण करते हुए देखने की अपेक्षा रखते हैं तो हमें उनकी सर्वप्रिय रचना

"आँसू"* को देखना चाहिए और करुण हृदय प्रसाद का प्रिय विषय है। आँसू की महिमा उन्होंने ब्रज भाषा में भी गाई है—

तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आँसू तैं पियूष तैं सरस हैं।'

"आँसू" ने हिन्दी काव्य की धारा को बदल दिया। वह हमारे काव्य-साहित्य में एक साका उपस्थित करती है। उसके बराबर लोक-प्रिय रचना हिन्दी में बच्चन को छोड़कर कम ही है। अनेकों कवियों ने "आँसू" का अनुकरण किया! प्रेम और निराशा ये दो प्रधान बातें आँसू में हमें मिलती हैं। "आँसू" के कवि के लिए यह संसार "व्यथित-विश्व-आँगन" है। वह प्रश्न कर बैठता है—

"क्यों छलक रहा दुख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में?"

तथा— "जीवन में मृत्यु बसी है,
जैसे बिजली हो घन में।"

स्थल-स्थल पर प्रेम-उद्गार बड़ी मार्मिक शैली में व्यक्त किये गये हैं—

"विष-प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक प्याले का,
अब प्रेम बना जीवन में।"

'आँसू' में निराशा के साथ-साथ सामञ्जस्य-बुद्धि का भी समावेश हुआ है। कवि मानो किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा है जिसे वह संसार के सम्मुख रख देना चाहता है—

"मानव-जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का

*काल क्रम में झरना के बाद आँसू आता है।

दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"

'आँसू' का कवि भाव कल्पना से भरा हुआ है। उसमें वह कल्पना जगत का पथिक है। और उसकी विधायक शक्ति पूर्णरूपेण प्रदर्शित है। भविष्य की 'कामायनी' के रचनाकार की उसमें झाँकी मिलती है।

× × ×

'आँसू' से 'कामायनी' तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है, मानों कवि ने अपना एक युग पूर्ण कर नवीन संसार में प्रवेश किया है। कामायनी समस्त हिन्दी संसार की अद्वितीय वस्तु है। उसमें प्रसादजी 'महाकवि' के रूप में प्रकट हुए हैं। कामायनी में जीवन का कोई विशेष अङ्ग नहीं, वल्कि सम्पूर्ण जीवन है। ऐसा लगता है, मानो कवि प्रसाद जीवन भर किसी विशाल विषय की खोज में रहे थे और जीवन की अन्तिम घड़ियों में ही वह खोज सफल हुई। मिल्टन और दाँते के काव्य की सी कथावस्तु कामायनी की भी है। वह विश्व-साहित्य की अनोखी चीज है। मृत्यु समय प्रसादजी ने जो अन्तिम भेंट हमें दी है वह हिन्दी संसार की अमर सम्पत्ति है। हिन्दी उनकी चिर ऋणी रहेगी।

'कामायनी' की कथा-वस्तु पौराणिक है। वह पुरातन स्वर्ण युग के समय की घटना को लेकर आगे चलती है। उसमें आदि पुरुष और आदि स्त्री के चरित्र अङ्कित हुए हैं। 'कामायनी' जीवन की फिलासफी का क्रमिक तथा स्वाभाविक विकास है। उसकी रचना मानवात्मा की एक शाश्वत पुकार को लेकर हुई है। उसमें जीवन के प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से सुलझाया गया है। उसमें एक सहज रूपक द्वारा कल्पना तथा कविता की सहायता से जीवन के चिरन्तन सत्य की चिर-नवीन झाँकी दी गई है। 'कामायनी' की कथावस्तु सार्वदेशिक एवं शाश्वत है वह निस्सीम है। वह प्रत्येक देश; जाति; काल; धर्म सभी से ऊपर है।

'कामायनी' में मनु और इड़ा का चित्रण तो अपूर्व हुआ ही है, साथ ही, अनेकों स्थलों पर प्रथम कोटि के काव्योद्गार भी हैं। प्रारम्भ में ही जलप्लावन का दृश्य बड़ा सुन्दर है तथा चिन्ता का वर्णन भी बहुत प्रभावोत्पादक शैली में हुआ है। 'कामायनी' में स्वतन्त्र रूप से अनेकों गीत (lyrics) बिखरे पड़े हैं। काव्य की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तथा अन्य सभी दृष्टियों से 'कामायनी' एक सफल रचना है।

आँसू की प्रेम-मीमांसा

प्रसादजी का आँसू नाम का छोटा-सा काव्य अपने आकार की लघुता एवं घनीभूत पीड़ा की रसमयी अभिव्यक्ति के कारण भौतिक आँसू का ही प्रति रूप है। आँसू को भाँति इसके आदि में विषम-वेदनामयी जलन है और अन्त में ममत्व-परत्व के द्वन्द्वों से ऊँचा उठा कर सुख दुःख का मेल करानेवाली उपेक्षापूर्ण मङ्गलमयी शान्ति की रस वृष्टि है।

आँसू विरह प्रधान काव्य है किन्तु इसका विषय वर्तमान विरह नहीं है। वरन् इसका सम्बन्ध विगत विरह की मधुस्मृति तथा उसकी ज्वाला को उपशमन करने वाली जीवन-मीमांसा से है। कष्ट की वर्तमान अवस्था में रस नहीं रहता वह लौकिक अनुभव की ही कोटि में आता है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को विगत मनोरागों का सावकाश स्मरण कहा है। Poetry is emotion recollected at leasure यह विरह स्मृतिपरक् होने के कारण कम तीव्र नहीं है। क्योंकि अभि-लाषाएँ इन स्मृतियों को जागरित कर तीव्रता प्रदान करती रही हैं इस प्रकार इस विरह निवेदन में वास्तविकता और स्मृति दोनों का ही सम्मिश्रण है।

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना।

पूर्वानुभूत सुख एवं विरह-जन्य दुःख की स्मृतियाँ मिल कर कवि के मन पर एक गहरा प्रभाव डालतीं हैं और वही घनीभूत पीड़ा अपने क्लिष्ट अर्थ को सार्थक करती हुई (केन्द्रीभूत और मेघस्वरूपा) आँसू के रूप में बरस पड़ती है।

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

यहाँ तो स्मृति उपमान रूप में ही आई है किन्तु इस काव्य का उदय स्मृतियों से ही हुआ है। वे स्मृतियाँ मिलने और विरह से सम्बन्ध रखती हैं और प्रकाशमयी हैं। वे जलन की भी स्मारक हैं और मिलन की भी।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
... ...

इस ज्वालमयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महा मिलन के।

आँसू में केवल विरह-निवेदन ही नहीं है और न इसका अन्त भौतिक मिलन में है। इसमें एक जीवन-मीमांसा और तत्व-चिन्तन भी है जिसके आलोक में वेदना वैयक्तिक बन्धनों से मुक्त होकर एक दिव्य आभा धारण कर लेती है और कवि सौन्दर्य के एक मानसिक आदर्श में मग्न होकर एक उपेक्षामय शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार आँसू के लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्ष हैं।

प्रसादजी ने केवल उस अन्तर्ज्वाला के ही दर्शन नहीं कराये हैं जो विश्व-मंदिर के मणिदीप सदृश तारकों की झिलमिल छाया में भी निरन्तर जलती रहती हैं वरन् उस रूप-चन्द्रिका की भी ललित-कलित झाँकी दिखलाई है जो कामना द्वारा इस अग्नि को प्रदीप्त रखती है—

सौन्दर्य सुधा बलिहारी,
चुगता चकोर अंगारे।

प्रसादजी ने सौन्दर्य सम्पन्न प्रेम-पात्र के साथ मिलने के उस पीयूष प्रभाव का भी जो जीवन को सरसता प्रदान करता है, दिग्दर्शन कराया है।

प्रसादजी ने उस सौन्दर्य का वर्णन कुछ-कुछ प्राचीन कवियों के ढङ्ग का ही किया है देखिए:—

चञ्चलता स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी

इस पद्य में हमको तुलसीदासजी के 'जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई' से आरम्भ होने वाले रूपकमय सौन्दर्य-वर्णन का वर्तमान कालीन रूप मिलता है। इस सौन्दर्य के वर्णन में प्रसादजी ने अलङ्कारों का जो प्रयोग किया है वह उनके हृदय की भावना और उमङ्ग का द्योतक है। देखिए—

लावण्य-शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी-प्यारी

लावण्य-शैल को राई बना कर एक विरोध का ही चमत्कार नहीं उत्पन्न किया है वरन् उसको सार्थक भी बना दिया है। नजर से बचाने के लिए राई नौंन उतारा जाता है। प्रसादजी ने अपने प्रेम-पात्र के वर्णन में जिन अलङ्कारों का प्रयोग किया है वे बड़े ही सार्थक हैं।

प्रसादजी ने कहीं-कहीं किसी अङ्ग के वर्णन में रीति-कालीन कवियों का अनुसरण किया है। साथ ही परम्परा युक्त उपमानों की अनुपयुक्तता दिखला कर एक प्रकार का आश्चर्य और चमत्कार भी उत्पन्न कर दिया है। देखिए—

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे ?

है हँस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे ?

हमारा उद्देश्य प्रसादजी के अलङ्कार विधान पर प्रकाश डालना नहीं है। वरन् यह कि ऐसे वर्णनों को देखकर प्रश्न होता है कि प्रसादजी के आँसू का आलम्बन कोई हाड़ मांस चाम का लौकिक व्यक्ति है अथवा यह लौकिक व्यक्ति केवल आलङ्कारिक है और इसके द्वारा अलौकिक प्रेम-पात्र की ओर संकेत किया गया है। ऐसे वर्णन तथा कुछ और वर्णनों को (जैसे—बाँधा था विधु को किसने इन काली जञ्जीरों से) देखते हुए यह कहना कठिन है कि आँसू का आलम्बन भौतिक नहीं है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे अलौकिक की ओर संकेत है। देखिए—

छायानट छवि परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या कुहुकिनि अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता
... .
अपनी आँखों का तारा।

कुछ लोगों ने जैसे डाक्टर रामकुमार वर्मा ने आँसू का आलम्बन सत्य माना है और प्रोफेसर नगेन्द्र ने कवि की वासना का प्रतीक रूप किन्तु आँसू के पढ़ने से मालूम होता है कि इसका आलम्बन तो वास्तविक व्यक्ति ही था फिर विफल वेदना के कारण उसका निराकरण होकर वह सौन्दर्य का आदर्शमात्र रह गया और विरह भी ममता-शून्य होकर मङ्गलमय हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में व्यक्तित्व की ओर स्पष्ट संकेत है। देखिए—

प्रतिमा में सजीवता सी
बस गई सुछवि आँखों में

थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

सांसारिक प्रेम यदि खिड़वाड़ नहीं है तो उससे व्यक्ति का ही मान होता है। विरह भी व्यक्ति का ही होता है। विरह ही निर्व्यक्तीकरण की ओर ले जाता है। उद्धव ने गोपियों को ब्रह्म में मन लगाने का उपदेश देकर उनके आलम्बन का निर्व्यक्तीकरण करना चाहता था लेकिन वह नहीं हो सका। प्रसादजी का निर्व्यक्तीकरण आत्म-चिन्तन का फल है। वैसे भी स्त्री और पुरुषों की भावना की मात्रा में अन्तर रहता है।

आँसू में हम भावना और चिन्तन का एक सुखद सम्मिश्रण पाते हैं। भावना चिन्तन के आधीन हो अपनी पूर्ति करती दिखाई देती है। आँसू में प्रसादजी के तीन व्यक्तित्व प्रेमी, कवि और दार्शनिक मिले हुए हैं। उनका कवित्व, प्रेमी के विरह को बल देता है फिर जब वह विरह चारों ओर भटका लेता है तब उनका कवि दार्शनिक और प्रेमी का मेल कराकर उसे विश्व-मण्डल की ओर ले जाता है।

प्रसादजी की प्रेम-पद्धति की पृष्ठ-भूमि में सर्वेश्वरवाद है। वे अपने लौकिक प्रियतम में भी ईश्वर की ही विभूति देखते हैं—

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन,
देखे जो स्वप्न सवेरे।

व्यक्ति और कवि के सहयोग की बात का आभास हमको नीचे की पंक्तियों से मिलता है—

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिमा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

कवि ने मिलन के आनन्द को भी द्विगुणित कर दिया और विरह पर भी शान चढ़ा दी थी।

प्रसाद व्यक्ति का प्रियतम चला जाता है। उसके आने और चले जाने दोनों के प्रभाव को कवि एक छन्द में कह देता है। उसने जो उपमान चुने हैं वे आश्रय और आलम्बन दोनों से ही सम्बन्ध रखते हैं। 'मादकता से आये तुम संज्ञा से चले गये'। प्रियतम स्वयं मदभरा था और आश्रय पर उसका प्रभाव भी मादकता का सा था। वे और उनके जाने से आश्रय संज्ञा-शून्य हो गया मानो वे स्वयं उसकी संज्ञा-स्वरूप थे। उसके चले जाने से सारा दृश्य पलट जाता है, 'बिनु गुपाल बैरिन भई कुञ्ज' की बात हो जाती है—

जल उठा स्नेह, दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूम रेखा से
चित्रित कर रहा अंधेरा
इस तनमय हृदय पुलिन में

जहाँ चाँदनी थी वहाँ अन्धकार हो गया। स्वर्गगङ्गा का स्थान कालिन्दी ने ले लिया और वह भी तममय हृदय-पुलिन में बहती है। विरहिनी करुणा से प्रेम का रंग छूटता नहीं है वरन् और भी गहरा हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि कहता है—

अब छुटता नहीं छुड़ाये
रंग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रंग अनोखा कैसा।
"रंग त्यों त्यों उज्ज्वल होइ

ज्यों-ज्यों बूढ़े श्याम की बात तो नहीं है'; किन्तु रंग पक्का होने के कारण निखरता ही है, फीका नहीं पड़ता है।

विरह की इस विषम-वेदना में कवि विश्व से परिचय प्राप्त कर लेता है।

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

वह चारों ओर भटक आता है, भटकने पर भी कहीं कूल किनारा नहीं मिलता है। विश्राम की कहीं झलक भी नहीं दिखाई देती:—

वेदना विकल फिर आई
मेरा चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में।

कवि की कल्पना व्यक्ति को सहारा देती हैं। वह रोई हुई आँखों में की निद्रा द्वारा सुख स्वप्नों में, अथवा कवि के काल्पनिक लोक की अलौकिक सुषमा के रसास्वादन में आशा की किरण की झलक पाता है।

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
बन कर सपना होता है।

फिर स्वर्गगङ्गा कालिन्दी और तम का स्थान ले लेती है और उसमें श्वेत कमल खिलने लगते हैं। श्वेतता आशावाद का प्रतीक है यही प्रसादजी की प्रतीकात्मक शैली है। इस विश्राम और स्वप्न का सुख लेने के लिए विस्मृति की मदिरा आवश्यक है। यही विस्मृति और उपेक्षा प्रसादजी की अमृत धारा है। देखिए:—

विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण-जलद की

संध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

यह विस्मृति अन्तिम नहीं है। यदि अन्तिम होती तो वह मृत्यु का पर्याय बन जाती। कवि अपने हृदय की ज्वाला को भी जाग्रत रखना चाहता है उसको वह मानवता का सौभाग्य चिह्न (रोली) कहता है और उसमें वह मानवता के कलुष के शयन की आशा देखता है:—

जीवन सागर में पावन
बडवानल की ज्वाला सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल बाला सी।

ज्वाला का शान्त होना, प्रगति का चिह्न है। वेदना के पावन प्रभाव को प्रसादजी स्वीकार करते हैं। वह जीवन को गति देने के लिए आवश्यक है। प्रसाजी का उपचार इतने से ही शेष नहीं हो जाता है। इसके साथ एक जीवन मीमांसा का भी अनुपान है जो विस्मृति की औषधि से कहीं अधिक महत्व रखता है और वह सर्वथा भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी है। इस मीमांसा के दो अङ्ग हैं एक प्रेम पात्र का निर्व्यक्तीकरण (जिसका उपदेश उद्धव ने गोपियों को दिया था) और ममत्व का त्याग इस मीमांसा प्रसाद का दार्शनिक व्यक्ति का सहायक होता है। जैसा ऊपर कहा गया है। प्रसादजी के प्रेम का आधार सर्वेश्वरवाद है। वे निराशा की ध्वंस चिन्ता से अपने में सोई हुई विश्वात्मा को जगाते हैं और फिर जीवन में रस लेकर विश्वमङ्गल की कामना करते हैं। देखिए—

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है मुस्क्याती खड़ी अमरता॥
वह मेरे प्रेम विहँसते जागे मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में॥

अपनी सौन्दर्य पिपासा की तृप्ति के लिए कवि एक काल्पनिक आदर्श उपस्थित कर लेता है उसी की मानसिक पूजा में वह मग्न हो जाना चाहता है।

जिसमें इतराई फिरती
नारी—निसर्ग—सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता

शिशु की निर्मलता को मिला कर सौन्दर्योपासना को सात्विक बना दिया है। उसी को वे अपनी मानस पूजा का प्रतीक बनाना चाहते हैं। देखिए:—

मेरी मानस पूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो

इस मीमांसा का दूसरा अङ्ग है ममत्व के त्याग द्वारा सुख-दुःख का मेल यह अहंकार ही तो दुःख का कारण है इसके त्याग से दुःख दुःख नहीं रहता। कवि जीवन में दुःख-सुख को मिला हुआ मानता है। तुलसीदास जी ने भी इस संसार में पाप-पुण्य दिन-राती का सम्मिश्रण माना है। कवि मन में सुख-दुःख का मिले हुए प्रेम के साथ मन-मन्दिर में सोते हुए देखता है:—

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुःख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे

किन्तु वाह्य जगत में दुःख और सुख का कुछ संघर्ष दिखाई देता है। दुख पृथ्वी के ही बाँट पड़ा है। कवि दुःख को संसार में व्याप्त देखता है और पृथ्वी में दुःख का आरोप भी करता है। सागर का खारी पानी उसके आँसुओं का ही पुञ्जीभूत रूप है।

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आँसू से
करुणा सागर को भरती

दुःख और सुख के सम्बन्ध में अभिलाषाओं और वास्तविकता में अन्तर दिखाई पड़ता है। धरणी दुःख माँग रही है, आकाश छीनता सुख को। जब आकाश सुख को छीन लेता है तब दुख के अपनाने के सिवाय रह ही क्या जाता है? सुख के लिए भी कवि दुःख को आवश्यक समझता है। एक दुःख दूसरे के सुख का कारण बन जाता है।

उनका सुख नाच उठा है
यह दुख-द्रुम-दल हिलने से
शृङ्गार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से

दुख आवश्यक है। सौन्दर्य के लिए भी करुणा की अपेक्षा है। दुःख भी तीव्रता और कटुता ममता के ही कारण है जब कवि यह गाता है कि 'घर-घर में दिवाली है मेरे घर में अँधेरा' तब इस विवेचना के कारण उसका अहंभाव ही होता। यदि यह अहंभाव मिट जाय तब दुख की तीव्रता और कटुता जाती रह[redacted]

हो उदासीन दोनों से
दुःख सुख से मेल करायें
ममता की हानि उठा कर
दो रूठे हुए मनायें

आँसू का आरम्भ वेदना से होता और अन्त अश्रुहास मिली हुई जीवन को हरियाली देने वाली वर्षा से होता है। इसके काव्य के आदि में प्रेम का लौकिक पक्ष है और अन्त में उसके अलौकिक रूप की

झाँकी मिलती है लेकिन उसको वहाँ तक पहुँचने में निराशा और वेदना का पथ पार करना पड़ता है। लौकिक प्रेम का अनुभव अलौकिक प्रेम को मानवता प्रदान करता है। कवि अपने अहंकार की हानि कर उस रसभूमी सृष्टि में पहुँच जाता है जहाँ आनन्द ही आनन्द है। इसी अवस्था की कल्पना करता हुआ आशा करता है :—

हे जन्म-जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में
जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप-पुण्य हो जावे।

———·———

कामायनी की भाव-मूलक व्याख्या

वर्तमान युग में मानव को अपने बल और दौर्बल्य की आत्मचेतना हो गई है। वह अपने दौर्बल्य पर भी गर्व करता हुआ अपने पतन में उत्थान के बीज निहित पाता है। कामायनी इसी आत्म-चेतना से लिखा हुआ महाकाव्य है! इसके सुरम्य कथा-सूत्र में मानव सभ्यता का इतिहास एवं मानव मनोवृत्तियों का सांकेतिक विवरण सम्बद्ध है जो कि उसके काव्य-कुसुम के रसपूर्ण चित्रित सौन्दर्य में एक दिव्य सौरभ का आमोद प्रदान करता है।

इस महाकाव्य के नायक हैं आदि-पुरुष वैवस्वत-मनु जो कि जल-प्लावन के पश्चात् देवताओं की ध्वस्त सृष्टि में से बच रहे थे और जिनके देवत्व का दम्भ जर्जरित हो गया था।

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ।
आह सर्ग के प्रथम अङ्क का,
अधम पात्र मय सा विष्कम्भ ॥

मनु जिस रूप में हिमगिरि पर दिखाई देते हैं वह चिन्ताकुल होने पर भी पूर्णतया स्वस्थ और पौरुषमय है। मनु का जैसा स्वस्थ पुरुष-सौन्दर्य प्रसादजी ने अंकित किया है वैसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार।
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार ॥

चिन्ता-कातर बदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत ॥

इस काव्य में फलप्राप्ति मनु को होती है किन्तु श्रद्धा के ही सहारे। वही उसको चिन्ता के जीवन से आनन्द-लोक तक पहुँचाती है। इसीलिए उसी के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ। एकाकी मनु चिन्ता-कातर था और उसमें एक प्रकार के श्मशान-वैराग्य के रूप में देव-सभ्यता की उच्छृङ्खल विलासिता की प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल,
सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे, डूबा उनका,
विभव, बन गया पारावार।
उमड़ रहा है देव सुखों पर,
दुःख-जलधि का नाद अपार ॥

ऐसी पराजय की मनोवृत्ति में चिन्ता के सिवाय और कौनसी वस्तु स्थान पा सकती है? जब हृदय में उत्साह होता है तब चिन्ता नहीं रहती। मनु अपने पुरुषत्व के अभिमान में चिन्ता को दूर हटाना चाहते हैं।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता
तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप है, तू, जा, चल, जा
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम ॥

बुद्धि और चिन्ता का चाहे ऐक्य न हो किन्तु साहचर्य अवश्य है।

क्योंकि जहाँ चिन्ता होती है वहाँ ऊहापोह में बुद्धि का प्रयोग अवश्य होता है जैसा कि आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, यह बुद्धिवाद के विरोध का प्रथम संकेत है। मनु को फिर पराजय-वृत्ति घेर लेती है और वे इस संसार से भागना चाहते हैं। वे अपनी चेतना पर विस्मृति का आवरण डालने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे कोई निराश व्यक्ति अफीम खाकर या तो हमेशा के लिए या थोड़े काल के लिए चेतना का अन्त कर देना चाहता है। देखिए मनु कैसी बलवती विकलता का परिचय देते हैं—

विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
नीरवते! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से,
आज शून्य मेरा भर दे॥

यह दशा मनुष्य की चिरकाल तक नहीं रह सकती। तूफान के पश्चात शान्ति का समय आता है, विषाद और चिन्ता से पूर्ण कराल रात्रि के पश्चात् अरुणोदय हुआ और उसी के साथ प्रकृति का पट पलटा—उसकी भीषणता सौम्य रूप धारण करने लगी और मनु के हृदय में आस्तिकतामूलक कौतूहल की जाग्रति हुई। दुख और सुख के सन्धिकाल तक आस्तिकता, पश्चाताप और वैराग्य का बाहुल्य रहता है। वैसे भी प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से रहस्य-भावना की जाग्रति स्वाभाविक है।

यह विराट था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज;
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

× × ×

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान

मन्द गम्भीर धोर स्वरसंयुत
यही कर रहा सागर गान।

प्रभात की मधुरिमा में प्रकृति के सौम्य रूप को देखकर मनु के मन में आशा और उत्साह का उदय होता है और उसीके साथ जीवनेच्छा का भी।

जीवन ! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह
मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

जीवनेच्छा के साथ मनु के हृदय का विषाद जो अभी तक पूरी तौर से दूर नहीं हुआ था कुछ उग्र हो उठता है। जीवन, केवल जीवन शिला का सा अस्तित्व मात्र कुछ अर्थ नहीं रखता। जीवन पूर्णता चाहता है। निरुद्देश एकाकी जीवन विषाद की अग्नि को प्रज्वलित कर देता है और मनु सोचने लगते हैं।

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा।

मनु को सूनापन अखर रहा था। उनके मन में भी एकोऽहम् बहुस्याम की चाह थी और इसी चाह से प्रेरित हो वे सोचते थे—

जैसे हम हैं बचे हुए
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए,

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे
दुख का गहन पाठ पढ़ कर अब
सहानुभूति समझते थे;

ठीक है 'जाके पायँ न फटे विवाई सो का जाने पीर पराई'—यह है परार्थ सात्विक कर्म। इससे श्रद्धा की प्राप्ति होती है।

बहुत प्रतीक्षा तथा अपने मन को सुलानेवाले प्रेम की सुध करने के पश्चात् मनु को श्रद्धा की आवाज सुनाई पड़ी। सौन्दर्य उपासना के लिए प्रेम की जाग्रति आवश्यक है। मनु जिस आवाज को सुनने को तैयार हो गये थे वही उनके कानों में आई। आवाज ही चिन्ता-मग्न पुरुष को आकर्षित कर सकती है फिर तो सौन्दर्य-दर्शन के लिए नेत्र खुल जाते हैं। नेत्र खुलते ही श्रद्धा की नयनाभिराम मूर्ति भी सामने आई जिसका वर्णन प्रसादजी ने इस प्रकार किया है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग

नील वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक होता है क्योंकि नील रंग बार-बार धोने से भी हलका नहीं पड़ता। सूर ने भी राधा को नीली फरिया पहनाई है। श्रद्धा भावुकता की मूर्ति है, कला और सौन्दर्य की प्रतीक है। वह गंधर्व देश में कला का ज्ञान प्राप्त कर के आई थी।

भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान

श्रद्धा ने मनु को आशा, उत्साह और कर्मण्यता का सन्देश दिया। श्रद्धा के उदय होते ही आशा का संचार होने लगता है। श्रद्धा में जो विश्वास की मात्रा रहती है वही उत्साह का कारण बनती है। श्रद्धा के मुख से प्रसादजी जीवन मीमाँस का भी उद्घाटन कराकर मन को निराशाजन्य पलायनवाद से विरत कर जीवन का आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त करते हैं।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल;
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा है स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

दुख ही सुख के विकास का कारण होता है। हमको जीवन उसकी पूर्णता में ग्रहण करना चाहिए। दुखों को छोड़कर अमिश्रित सुख नहीं मिल सकता। भूमा पूर्णता का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम' दुख ही जीवन के मूल्यतम रत्नों को प्रकाश में लाता है:—

व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।

मनु पलायनवाद की ओर जाता है। श्रद्धा उसको जीवन-संग्राम की ओर ले जाती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में नारी को महत्व दिया है। पुरुप-प्राधान्य के बहुत से काव्य लिखे जा चुके हैं, नारी-प्राधान्य के काव्य से हमें विचलित नहीं होना चाहिए। किराताजुर्नीय में द्रौपदी ने ही पाण्डवों को प्रोत्साहन दिया था और राजपूत रमणियाँ भी पुरुषों को युद्ध के लिए सुसज्जित करती रही हैं किन्तु यहाँ श्रद्धा ने सुसज्जित करने से कुछ अधिक काम किया है। उसने मनु को निराशा के गर्त से

निकाल कर जीवन में प्रवेश कराया है। मनु कहते हैं:—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख, नहीं सन्देह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह

श्रद्धा तप की अपेक्षा जीवन को महत्व देती है और आकांक्षापूर्ण ाशा आल्हाद की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करती है। जीवन रस्कार की वस्तु नहीं। श्रद्धा का उत्साहपूर्ण उत्तर सुनिये:—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह:—
'अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।
तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;

श्रद्धा मनु, के लिए अपने हृदय का द्वार खोलकर दया, माया, ता आदि रत्नों को उसे भेंट करती है।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ

जीवन का उल्लास और आशावाद जितना हमको कामायिनी के ों में मिलता है उतना इस युग में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। युग के निराशावाद के लिए यह एक औषधि रूप है।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास,
शक्ति का क्रीड़ामय संचार॥

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय॥

श्रद्धा के इस आत्म-समर्पणमय वीरता के सन्देश के पश्चात् काम ने एक दूरागत ध्वनि के रूप में आकर अपना परिचय देते हुए कन्यादान की रसम भी अदा करदी।

हम दोनों की सन्तान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली।
रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली।
जड़ चेतनता की गाँठ वही,
सुलझन है भूल-सुधारों की।
वह शीतलता है शान्तिमयी,
जीवन के उष्ण विचारों की॥

सरसरी तौर से देखने पर श्रद्धा का, काम की दुहिता होना कुछ संदिग्ध सा प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम काम को उसके शुद्ध और व्यापक रूप में लेते हैं तो यह सन्देह दूर हो जाता है। संसार में काम एक आदि-प्रेरक शक्ति है। 'काममयं एवायं पुरुषः', लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा सब इसी के विविध रूप हैं। जीवन की आकांक्षा (The will to live) भी इसका नामान्तर है। काम में ही भाव का मूल है। कलाओं का भी इसी से सम्बन्ध है। चौसठ कलाओं का विवरण हमको काम-सूत्रों में मिलता है। काम आकांक्षा है रति उसकी तृप्ति है। आकांक्षा की तृप्ति श्रद्धा को जन्म देती है।

काम के पश्चात् वासना का उदय होता है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। काम और वासना मनुष्य की इच्छा शक्ति के ही रूपा-

न्तर हैं। वासना के आते ही मनु का मन सौन्दर्य-प्रवण हो जाता है
और कामायनी के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाने पर भी
वह श्रद्धा को आत्म-समर्पण कर देता है।

'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' यही सुदृढ़ विचार
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार

सौन्दर्य के विषयी-प्रधान (Subjective) और विषय-प्रधान
(objective) दोनों ही पक्ष हैं। बिहारी ने इन दोनों पक्षों का
उद्घाटन 'रूप रिझावन हार वह ये नयना रिझवार' इस दोहार्ध में
किया है। वासना उसके विषयीप्रधान पक्ष को पुष्ट करती है और लज्जा
उसके विषयप्रधान पक्ष को बल देती है। लज्जा वासना की अतिशयता
के ऊपर एक आवश्यक 'ब्रेक' का भी काम करती है। कामायनी में
लज्जा के इन दोनों धर्मों की ओर संकेत किया गया है।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ,
गौरव महिमा हूँ सिखलाती;
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती

मनु श्रद्धा के बचनों का उलटा अर्थ लगाकर पशुबलि के काम्य-
कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं और इसमें असुरों के पुरोहित किलात और
आकुलि उनके सहायक बनते हैं। पशुबलि होती है, पाशविकता की
वृद्धि के लिए। मेरी समझ में दोनों ओर के आत्म-समर्पण के बाद यह
काम्य-कर्म का व्यापार कुछ असंगत सा लगता है। श्रद्धा को पुरोडाश
और सोमपान कराना अनावश्यक था। पशुबलि का विरोध प्रसादजी के
प्रकाम्य विषयों में से था, शायद इसीलिए उसके वर्णन करने का मोह
वे संवरण न कर सके हों। यह बलिकर्म श्रद्धा के पालित पशु के प्रति
मनु के ईर्षालु मन की प्रेरणा से हुआ हो या पूर्व संस्कारों की प्रब-
लता से, जो कुछ भी हो यह कुछ अप्रासङ्गिक सा लगता है।

मनु अपने आदर्श स्वभाव में चित्रित नहीं हुए हैं। प्रसादजी यथार्थवादी हैं। मनु का चरित्र नैतिक बन्धनों से ही न हो साधारण मनुष्य के रूप में दिखाया गया है। पहले उनको श्रद्धा के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या हुई थी, अब अपने ही भावी पुत्र के प्रति। मनु देव सृष्टि के अवाञ्छित अधिकारों के संस्कार लेकर आये थे और शायद वे घर में बंधकर नहीं बैठना चाहते थे।

मातृभार से दबी हुई श्रद्धा का केतकी गर्भ सा पीला मुँह और आँखों में भरा स्नेह उनको अधिक आकर्षण न दे सका A thing of beauty is not a joy for ever की बात उपस्थित हो गई थी। श्रद्धा उनके मृगया कर्म का भी विरोध करती थी। वह मृगया के आगे खेती की अवस्था को पहुँच गई थी। स्त्रियाँ सदा रक्षा का प्रतीक रही हैं। श्रद्धा के भावी वात्सल्य और मनु के दूसरे को न सहन करने वाले प्रेम में संघर्ष हो उठता है।

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार!
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।

मनु का अहं इतना बढ़ा हुआ है कि वह अपने बिना श्रद्धा को सुखी नहीं देख सकता। पुत्र और पति की प्रतिद्वन्दिता का उल्लेख आज कल के मनोविश्लेपण शास्त्र में आता है किन्तु यहाँ पर यह पूर्णतया व्यक्त हो गया है।

तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभ तरङ्ग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
बन-बन बन कस्तूरी कुरङ्ग।

मनु वहाँ से चले जाते हैं किन्तु श्रद्धा से पृथक होते ही उनको

पश्चाताप और विषाद घेर लेता है। वे अपने को नियत चक्र का शिकार पाते हैं। यह भी प्रसादजी के अभिमत विषयों में से है।

इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही
खोखली शून्यता में प्रति पद असफलता अधिक कुलाँच रही
पावस रजनी में जुगुनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
× × उन ज्योति कणों का कर विनाश।

मनु को श्रद्धा के छोड़ने के लिए काम भी बहुत फटकारता है 'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह से कुछ सत्ता है नारी की' और शाप भी देता है। यहाँ पर मनु श्रद्धा के हृदय-पक्ष से हटकर इड़ा के बुद्धि-पक्ष की छाया में आते हैं। इड़ा सारस्वत देश, जो बुद्धि का प्रतीक है और जिसमें देवताओं और दानवों का युद्ध हो चुका है, की रानी है। वह कर्म और विचार की अधिष्ठातृ देवी है। उसका रूपही तर्कमय और ज्ञानमय था।

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये

इड़ा मनु को सारस्वत देश का राज करने को कहती हैं। इड़ा के साथ रहने से मनु की अध्यक्षता में विज्ञान-प्रधान सभ्यता का विकास होता है। कामायनी में सभ्यता की तीनों श्रेणियाँ आजाती हैं। स्वयं मनु मृगया वाली सभ्यता के पोषक थे। श्रद्धा कृषि और पशु-पालन की सभ्यता के पक्ष में थी। इड़ा के संयोग से मनु, विज्ञानप्रधान सभ्यता के जन्मदाता बने। बुद्धि के साथ उनको वैभव भी मिला, उसमें दैव-कोप हुआ। मनु वैभव से ही सन्तुष्ट न थे। वे स्वयं इड़ा पर अधिकार जमाना चाहते थे।

बुद्धि का दुरुपयोग विनाश का कारण बनता है। मनु की प्रजा विद्रोह करने लगी और युद्ध छिड़ गया। मनु अपनी दी हुई वैज्ञानिक

सभ्यता का अहसान जतलाते हैं। उनकी प्रजा उस सभ्यता का तिरस्कार कर उत्तर देती है।

हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख
प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

इस उत्तर में गाँधीवाद के सरल प्राकृतिक जीवन का पक्ष लिया है। मनु संग्राम में आहत होकर मूर्छित हो जाते हैं।

श्रद्धा इस सब व्यापार को स्वप्न में देख चुकी थी। वह अपने पुत्र मानव को साथ लेकर मनु की खोज में चल दी। श्रद्धा सारस्वत देश में पहुँचकर इड़ा को मनु की विफलता पर सहृदयतापूर्ण विचार करती हुई पाती है। मनु श्रद्धा और कुमार को देखकर कृतज्ञता से भर गये और उससे इड़ा की छाया से बाहर ले जाने के लिए कहने लगे। मनु को श्रद्धा का महत्व और उसके प्रेम का मूल्य प्रतीत होने लगा।

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि-तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

यहाँ पर फिर हृदयवाद की विजय होती है, किन्तु मनु मोह के बन्धन में अधिक नहीं रहना चाहते थे।

वे रात्रि में ही भाग निकले। उनके हृदय में पराजय की लज्जा और बदला लेने की अशक्तता काम कर रही थी। श्रद्धा के संयोग हो जाने पर मनुष्य संघर्ष में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

सुबह उठते ही श्रद्धा, इड़ा और कुमार तीनों ही मनु की खोज में निकलते हैं। इड़ा अपने को सबसे अधिक अपराधिनी समझती थी। उसने रास्ते में पश्चाताप भरे शब्दों में श्रद्धा से क्षमा याचना की। श्रद्धा ने इड़ा को उसकी न्यूनता बतलाई।

बन विषम ध्वान्त
सिर चढ़ी रही पाया न हृदय,
जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;
ओ तर्कमयी! तू गिने लहर,

'सिर चढ़ी' में अभिधा और लक्षणा के अर्थों का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। बुद्धि मस्तिष्क में रहती हैं। यहाँ पर प्रसादजी ने जीवन मीमांसा का एक सिद्धान्त श्रद्धा के मुख से कहलाया है। जीवन के रहस्य की प्राप्ति ब्योरे (Letail) में पड़कर नहीं मिलती। जीवन को उसकी पूर्णता में व्यापक दृष्टि के साथ देखने में हम रस ले सकते हैं। लहरों के गिनने की अपेक्षा हमको उसके पूर्णप्रवाह का आनन्द लेना चाहिए। श्रद्धा ने यद्यपि इड़ा को फटकार बतलाई थी तथापि वह उसका महत्व जानती थी। सच्चा श्रद्धावान विरोध नहीं कर सकता। वह गुण ग्राहक होता है। इसीलिए कामायनी अपने कुमार को इड़ा के साथ कर देती है। वह जानती थी कि दोनों के साथ रहने में दोनों का ही नहीं वरन् सारी मानव जाति का कल्याण है।

"हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार ।"

श्रद्धा भी कर्म के विरुद्ध नहीं है किन्तु वह विषमता उत्पन्न करने वाले कर्म नहीं चाहती। वह सब प्राणियों की समरसता की इच्छुक है। समरसता शैव दर्शन का शब्द है। शैव्य अद्वैतवादी दर्शन है। अद्वैत-वाद में विषमता को स्थान नहीं।

इड़ा और मानव को विदा करके, श्रद्धा ने मनु को नदी के एकान्त कूल पर लेटा हुआ पाया। श्रद्धा उनको सहारा और प्रोत्साहन दे उस उच्च शिखिर पर ले जाती है जहाँ महा हिम का धवल हास उल्लासित होकर स्वयं नृत्य करते हुए नटराज की मूर्ति बन रहा था। बिना श्रद्धा के मनुष्य को भगवान के दर्शन नहीं मिलते और दर्शन मिलकर ही रहस्य का उद्‌घाटन होता है, हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और आनन्द की प्राप्ति होती है।

मनु के चरण शिथिल हो जाने पर भी श्रद्धा उन्हें और भी उच्च भूमि पर ले जाती है। वहाँ मनु को तीन विन्दु दिखाई दिए।

त्रिदिक विश्व, आलोक विन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे,
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।

ये विन्दु इच्छा, क्रिया और ज्ञान के थे। ये अलग अलग थे। इच्छा का रंग तो भावमूलक होने के कारण लाल था, कर्म का रंग कठिन लोह-शृङ्खला से सम्बन्ध होने के कारण काला और ज्ञान का रङ्ग श्वेत कहा है। यही स्वर्ण लोह और रजत के रङ्ग हैं। श्रीमद्भागवत में मय दानव तीन के रथों का उल्लेख है। वे रथ सोने, चाँदी और लोहे के थे। वे इतने बड़े थे कि पुर से दिखाई पड़ते थे—'स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौं प्यायसी विभुः' इसी से ज्ञान, इच्छा और क्रिया के वृत्तों के मिल जाने को त्रिपुरदाह कहा है।

श्रद्धा इच्छा लोक का इस प्रकार परिचय देती है—

वह देखा रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।
चिर-वसन्त का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है;
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते, एक डोर हैं।

कर्म-लोक का नीचे के शब्दों में परिचय दिया गया है—

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीडन मय
विकल, प्रवर्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

ज्ञान-क्षेत्र के विषय में श्रद्धा मनु को इस प्रकार बतलाती है—

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।
यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती;
बुद्धि,बिभूति सकल सिकतासी
प्यास लगी है ओस चाटती!

भाव लोक में सब सुख दुख एक साथ बँध जाते हैं। कर्म लोक में नियतिचक्र चलता है जिसमें मनुष्य परवश हो जाता है किन्तु अपनी मूढ़ता के कारण अपने को कर्त्ता मानता है (कर्ताऽहं मन्यते)।

अन्ध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता में करते निज गिनती।

ज्ञान में भेद और विवेक रहता है। यहाँ पर ब्योरे की ओर ज्यादह ध्यान दिया जाता है। यहाँ प्राप्य मात्र मिलता है किन्तु भाव लोक की सी तृप्ति नहीं। यद्यपि इड़ा में ज्ञान और कर्म का योग दिखाया गया था और श्रद्धा में भाव और कर्म का। तथापि यहाँ पर उनको अलग दिखाकर तीनों के पृथक और स्वतन्त्र रहने की अपूर्णता बतलाई गई है। समन्वय की आवश्यकता तभी समझ में आती है जब उनके पृथक रहने का दोष समझ में आ जाय।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह बिडम्बना है जीवन की।

श्रद्धा भी यद्यपि भावनावृत्ति है तथापि जिस अंश में तीनों के समन्वय के लिए भावना की आवश्यकता है उस अंश में वह अलग रखी गई है। समन्वय कराने वाला कोई अलग ही होता है। मनुष्य श्रद्धामय होकर दोनों का समन्वय कर सकता है और तीनों के समन्वय में ही आनन्द और कल्याण की प्राप्ति होती है, श्रद्धा की स्मिति-रेखा से तीनों विन्दु मिल जाते हैं—

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

× × ×

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मनु श्रद्धा के साथ अकेले नहीं रह पाते। फिर तो पूर्ण समन्वय न होता। इड़ा भी वहाँ मानव तथा अपनी प्रजा समेत आ जाती है। उनके साथ एक वृषभ भी था जो धर्म का प्रतीक है। धर्म को साथ लेकर ही हम आनन्द के लोक में पहुँच सकते हैं। आनन्द-लोक को प्राप्त कर धर्म अनावश्यक हो जाता है। वहाँ उसका उत्सर्ग कर दिया जाता है। वहाँ पहुँचकर इड़ा ने श्रद्धा के आगे सिर झुका दिया था यही हृदयवाद और बुद्धिवाद का समन्वय है—

भर रहा अङ्क श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर;
था इड़ा शीश चरणों पर
वह पुलक भरी, गद्‌गद् स्वर।

मनु ने भी उदारता पूर्वक इड़ा से अपना वैर भाव दूर कर दिया और कहने लगे—

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है
शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

× × ×

सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता!

जहाँ ऐसे उदार भावों की जाग्रति हो जाय वहाँ जीवन में आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। सारी प्रकृति एक अलौकिक आल्हाद से स्पन्दित हो जाती हैं। उस दशा को प्रसादजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

चिरमिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति तरङ्गायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन!

× × ×

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी।
समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

प्रसादजी ने वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा है कि इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। उपर्युक्त पंक्तियों में अहं और इदं का समन्वय है और उसी के साथ जड़ और चेतन की समरसता तथा उससे उत्पन्न होने वाले आनन्द का उद्घाटन। कामायनी का अन्तिम दृश्य रहस्यवाद का अच्छा उदाहरण है।

प्रसादजी शैव मत के अनुयायी थे जिसमें आनन्द को विशेष महत्व दिया गया है। प्रसादजी का कथन है कि आर्यलोग आनन्दवाद के मानने वाले थे। उनके हृदय में जीवन का उल्लास था जो यज्ञों में उद्वेलित हो उठता था। जो आर्यलोग इस आनन्दवाद से सहमत न हो सके वे व्रात्य कहलाये। वे तर्कवाद की ओर गये और आदर्शवादी बने। कामायनी के समझने में प्रसादजी के रहस्यवाद शीर्षक लेख से लिया हुआ नीचे का उद्धरण विशेष रूप से सहायक होगा—

"उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गई थी, जो आनन्द सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्यों में (जिनमें बौद्ध जैन आदि सम्मिलित हैं) तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था वहाँ प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द का सिद्धान्त भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुते न' (मुण्डक)।

नैषा तर्केण मतिरा मने या (कठ) आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।"

कामायनी में आर्यों के इसी मान्य सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इस आनन्दवाद में तप द्वारा इन्द्रियों को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं और न मन के निग्रह की क्योंकि शैवागमों के अनुयायी सारे विश्व को शिवमय मानते हैं फिर मन शिव को छोड़ कर जायगा कहाँ बाहर भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा कौनसा स्थान है।

इस प्रकार कामायनी में प्रसादजी के सभी मान्य सिद्धान्तों का समावेश हुआ है और इसमें उनकी कला की अन्तिम परिणति है।

कामायनी



मनु का चरित ऐसा नहीं है, जो स्वयं ही काव्य हो और जिसको छूकर किसी का भी कवि बन जाना सहज सम्भाव्य हो सके। अर्थात् महाकाव्य के लिए बनी बनाई जिन महान घटनाओं की आवश्यकता होती है उनका एक प्रकार से यहाँ अभाव है। इसमें आदि पुरुष और आदि नारी की कहानी है, अतः विकसित जीवन की जटिलताएँ उनके सामने नहीं हैं, कहीं-कहीं तो मानसिक-वृत्तियाँ भी मूलरूप में आयी हैं। कामायनी साढ़े तीन चरित्रों की कथा है। फिर भी विदग्ध पाठक जानते हैं कि खड़ी बोली के इस युग में महाकाव्य के नाम से जो पाँच-छः पुस्तकें प्रचलित की गयीं उन सभी से अधिक सफलता कामायनी को मिली है। महाकाव्य में महान कथा ही सब कुछ नहीं है, काव्य की महानता और प्रबन्ध की अक्षुण्णता भी कोई चीज है; 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' का भी महत्व है। इन तत्वों का संयत निर्वाह 'प्रसाद'जी द्वारा जैसा हुआ, इस काल के किसी अन्य कवि द्वारा नहीं।* अतः भावावेश में किसी काव्य-ग्रन्थ की प्रशंसा में जो यह लिखते हैं कि कामायनी किसी पुस्तक विशेष के सामने 'मनोविज्ञान की ट्रीटाइज' सी लगती है, वे प्रसादजी की प्रतिभा का स्पष्ट शब्दों में अपमान करते हैं।

वैसे तो पूरी कथा और उसकी प्रबन्ध कल्पना ही—सरल-सुन्दर है। पर श्रद्धा-मनु के आकर्षण से लेकर मिलन तक की गाथा तो बड़ी आकर्षक है। आकर्षण के मूल में प्रायः सौन्दर्य रहता है।

---

*कामायनी में प्रकृति के विभिन्न रूपों के चित्रण, सांस्कृतिक विकास और सांस्कृतिक संघर्षों के वर्णन, विभिन्न छन्द, रस, रीतियाँ, अलङ्कार आदि उसके महाकाव्यत्व के पोषक हैं। —सम्पादक

प्रलय काल में मनु के भीतर उपेक्षामय जीवन का जो मधुमय स्रोत बह रहा था श्रद्धा के मधुर सौन्दर्य की ढलकाऊ भूमि पाते ही वेग से बह उठा। उसे सामीप्यलाभ के लिए कोई विकट प्रयत्न नहीं करना पड़ा—न राम की तरह धनुष तोड़ना पड़ा, न रत्नसेन की तरह चोर बनना पड़ा, न सलीम की तरह किसी अफगन की हत्या करानी पड़ी और न एडवर्ड की तरह साम्राज्य ही छोड़ना पड़ा। यहाँ तक कि न रात के बारह बजे इत्र में डुबा कर पत्र लिखने पड़े, और न आँसुओं से तकिये भिगोने पड़े। पर आगे चल कर ज्योत्स्नास्नात मधु यामिनी के अधीर पुलकित एकान्त वातावरण में नर के विकल अशान्त वक्ष से आवेग की चिनगारियों का फूटना और नारी का गम्भीरता से 'मत कहो पूछो न कुछ' कहना और उसके पश्चात—के पलों को सामान्य नारी के जीवन के उस मधुर वसन्त को—जिस असामान्य रंगीनी और सधी तूलिका से कविने चित्रित किया है, वह काव्य की अपनी वस्तु है और निश्चित ही वह 'मनोविज्ञान' की किसी 'ट्रीटाइज' में नहीं मिलेगा।

मनु चिंतनशील प्राणी हैं। कामायनी की वे उक्तियाँ जो इस काव्य-भवन की जगमगाती मणियाँ हैं, प्रायः मनु के मुख से ही निकली हैं। प्रारम्भ में उन्होंने अपने को 'अमरता का जर्जर दंभ' कहा है। इस दंभ ने उनका पीछा बहुत दिन तक किया। 'अहं' दंभ का पिता है और ईर्ष्या 'अहं' की बहिन। 'अहं' और ईर्ष्या के कारण उन्हें कभी शान्ति न मिली। पर मनु सबसे पहले पुरुष हैं और 'पुरुष' शब्द का उच्चारण करते ही पौरुष का भाव स्वयं जाग्रत होता है। कवि ने प्रथम सर्ग में ही उनके शरीर की दृढ़ गठन और सबलता का परिचय देने के लिये उनके अवयव की दृढ़ मांस पेशियों और स्वस्थ-शिराओं की चर्चा की है। आखेट-व्यसनी मनु की कल्पना भी एक दृढ़ सबल स्फूर्तियुक्त पुरुष की भावना ही सामने लाती है। और आगे चल कर जब प्रजा और प्रकृति के सम्मिलित विद्रोह का सामना करने के लिए मनु अपना धनुष उठाते हैं तो शक्ति का दुरुपयोग करने से यद्यपि

अत्याचारी या बर्बर कह कर उनकी असंयत बुद्धि और अनियंत्रित हृदय का तिरस्कार करने की इच्छा भी जागरित होती है, पर उनके पौरुष पर एक प्रकार का आश्चर्य ही होता है।

श्रद्धा के हृदय का निर्माण अनन्त स्नेह और अगाध कोमलता से हुआ है। उसकी ममता पशुओं तक विस्तृत है। मनु दो बार उसे छोड़ कर भागते हैं, और श्रद्धा दोनों बार मन में मैल न लाती हुई मनु के हृदय का बोझ हलका करती है। दूसरी बार मनु जब प्रेम में विश्वासघात के भी दोषी हैं, श्रद्धा का उन्हें अपनाना नारी-हृदय की अनन्त क्षमा का परिचय देता है। यहाँ नारी ने नर को पराजित कर दिया। सच पूछो तो प्रेम में नारी ने नर को सदैव पराजित किया है—क्या सीता ने राम को, क्या राधा ने कृष्ण को और क्या गोपा ने बुद्ध को!

इड़ा आकर्षक है, प्रेरणामयी है। कवि ने कुछ तो रूपक के आग्रह से और कुछ विशेष उद्देश्य से उसे कठोर-हृदया बनाया है। उसकी दृढ़ता से मनु के अहं को धक्का लगता है जिससे उनका उर कोमल होकर श्रद्धा की उत्सर्ग-भावना से पिघलता है। श्रद्धा के स्नेह का अपमान कर जब मनु इड़ा से प्रेम-याचना करते हैं तो इच्छा होती है कि यह नारी इनके साथ रूखा व्यवहार कर इस बात को प्रत्यक्ष करे कि प्रेम में प्रवंचना का क्या अर्थ होता है? उस दिन की उस प्रवंचना का फल आज भी प्रत्येक निराश-प्रेमी और अभागी प्रेमिका को उठाना पड़ रहा है। शतबिच्छुओं के दंशन-सा यह अमर सत्य सभी के पीछे लगा है—

जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है;
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।

वैभव-विहीना सन्ध्या के उदास वातावरण में कामायनी का विरह-

वर्णन कितना स्वाभाविक और विषाद को घनीभूत करने वाला है, और कितने थोड़े शब्दों में, किस मार्मिकता से व्यक्त किया गया है। किसी के विरह-वर्णन में एक साथ आप सवासौ पृष्ठ काले कर दें तो इससे यह ता पता चल जायगा कि आप एक बात को फैला कर कह सकते हैं या किसी के वियोग की कथा को एकसे ढङ्ग पर दस विरहिणियों के द्वारा व्यक्त कराएँ तो यह भी पता लग जायगा कि विरह एक प्रकार का दौरा है जो कभी किसी को और कभी किसी को उठाता है। महाकाव्य में वर्णन के विस्तार का जो अधिकार प्राप्त है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आप उसे ऐसा विस्तार दें कि वह अपना प्रभाव ही खो बैठे। पाठकों के मस्तिष्कों के पात्रों की भी एक माप है जिसमें अधिक रस डालने से उछलने लगता है। अधिक विस्तृत वर्णन में समरसता नहीं रह सकती, अतः अच्छे कवि इस बात का ध्यान रखते हैं कि अपनी ओर से उचित परिमाण में ही किसी रस को मिलावें। अशोक-वृक्ष के नीचे बैठी सीता का विरह-वर्णन कितना संयत है, कितना संक्षिप्त और कितना प्रभावशाली! इसी सुरुचि का परिचय प्रसादजी ने 'स्वप्न' सर्ग में दिया है। प्रकृति के प्रतीकों के सहारे कामायनी के क्षीण शरीर का आभास, प्रकृति के प्रसन्न वातावरण के सम्पर्क से पीड़ा की तीव्रता का अनुभव, अतीत की मधुर घड़ियों का स्मरण; थोड़े से आँसू और बालक के 'माँ' शब्द के उच्चारण से एक गहरा आघात—और बस।

प्रकृति को लेकर कामायनी में 'प्रसाद' जी की विशेषता है उसके भयङ्कर विनाशकारी स्वरूप को चित्रित करता। शशि की रेशमी विभा से भरी जल की जो लहरें नौका-विहार के समय साड़ी की सिकुड़न-सी प्रतीत होती हैं, वे हमें निगल भी सकती हैं, जो अनिल केवल इसलिए गंधयुक्त है कि वह किसी की भावी-पत्नी के सुरभित-मृदु-कचजाल से गंध चुरा लाया है; वह घनीभूत होकर श्वासों की गति रुद्ध भी कर सकता है; जो विद्युत किसी के अङ्ग की आभा और चञ्चलता का उपमान बनती है और वर्षा की बूँदों को अपनी चमक से सोने की

बूंदें बनाती है वह कहीं गिर कर वज्र रूप भी धारण करती है, और 'गरल-जलद की खड़ी झड़ी' सहायक भी होती है। कामायनी के प्रारम्भ में पञ्चभूत के भैरव मिश्रण से जो प्रलय की हाहाकारमय स्थिति उपस्थित हुई, 'प्रसाद' द्वारा प्रकृति के उस दुर्दमनीय स्वरूप का चित्रण चमत्कृत करने वाला है—

"उधर गरजतीं सिंधु लहरियां
कुटिल काल के जालों-सी
चली आरही फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों-सी।"

जहाँ प्रकृति के मनोमुग्धकारी स्वरूप का अंकन हुआ है वहाँ दो विशेष बातें मिलती हैं—स्थान में हिमालय के वर्णन और समय की दृष्टि से संध्या और रात्रि के चित्रों की भरमार। हिमालय अधिकतर पात्रों की लीलाभूमि होने से बार-बार कवि के दृष्टिपथ में आया है। दूर-दूर तक विस्तृत हिम पर नव कोमल आलोक का बिखरना, और आलोक का अगणित हिमखण्डों पर पड़ कर अगणित हिमकर का सृजन करना! कितना भव्य दृश्य है! संध्या और तारे भरी ज्योत्सना-मयी यामिनी के अनेक रम्य चित्र भी कामायनी में बिखरे पड़े हैं। पर सबसे सुन्दर और पूर्ण, आशा-सर्ग में रजनी का एक मधुर चित्र है जिसमें चल-चित्र का सौन्दर्य भरा पड़ा है। विश्व क्या है? एक कमल। रजनी क्या है? एक मृदुल मधुकरी और ज्योत्सना नहीं है, वही मधुकरी रजत-कुसुम के नव पराग को मस्ती में भर कर उड़ा रही है। अब हिमगिरि और संध्या दोनों के संयोग का एक संश्लिष्ट चित्र देखिए:—

"संध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रङ्ग-विरङ्गी छींट;
गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियां
पहने हुए तुषार किरीट।"

श्री० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रसादजी की विचार-धारा में जो कोई दोष ढूँढ़े हैं उनमें से एक यह है। "श्रद्धा इड़ा से कहती है कि "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय"। क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि"? जब दोनों अलग-अलग सत्ताएँ करके रखी गयी हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना, और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है।"

इस आक्षेप का छोटा-सा उत्तर यह है कि शुक्लजी जिसे भूल कहते हैं, उसका ज्ञान 'प्रसाद'जी को था। कामायनी ने इड़ा के हाथ जब कुमार को सौंपा है तो जीवन की समरसता और सफलता के लिए उसने श्रद्धा और बुद्धि दोनों के योग पर जोर दिया है। एक के बिना दूसरा अधूरा ही है। इसी से उसने कहा है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कार्य अभय।

'रहस्य' शीर्षक सर्ग में श्रद्धा ने मनु को इच्छा का रागारुण, कर्म का श्यामल और ज्ञान का रजतोज्ज्वल तीन लोक दिखाये हैं, और उनके सामञ्जस्य में जीवन का वास्तविक सुख बताया है। 'केवल इच्छा' पंगु है। उसे कर्म का सहारा चाहिए। 'केवल कर्म' अन्धा है। उस पर विवेक या ज्ञान का नियन्त्रण होना चाहिए। मनु दोनों स्थितियों को देख चुके हैं। 'केवल ज्ञान' भी संसार में विषमता फैलाने वाला है क्योंकि ज्ञानी जब 'इच्छाओं को झुठलाते हैं' तो संसार का विकास कैसे होगा?

प्रसादजी के नाटकों की क्लिष्ट उक्तियों, उनमें आये गीतों तथा उनके काव्य-ग्रन्थों—विशेष कर 'आँसू' और 'कामायनी' को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक भाषा और भावाभिव्यक्ति का सम्बन्ध है वहाँ 'प्रसाद'जी का अपना एक स्टैंडर्ड था जिससे नीचे वे उतरना न

चाहते थे। मैंने कहीं यह भी लिखा देखा है कि 'कामायनी' कालान्तर में एक लोक-प्रिय रचना होगी। मेरा अपना विश्वास है कि 'कामायनी' को चाहे और कुछ गौरव प्राप्त हो, पर लोक-प्रियता या यश उस अर्थ में उसे न मिलेगा जिस अर्थ में तुलसी, सूर, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्दजी की रचनाओं को मिला है। कामायनी साहित्यिकों की प्रिय वस्तु रहेगी। लोक-दृष्टि से परखें तो 'प्रसाद'जी में 'प्रसाद' गुण की कमी है।

प्रसादजी के मस्तिष्क की एक विशेषता है नारी को कभी-कभी पुल्लिङ्ग में सम्बोधन करना। उर्दू में यह अत्यन्त सामान्य प्रवृत्ति है, पर हिन्दी के कवियों में यह रोग 'प्रसादजी' ही को था। आँसू में भी इसका आभास मिलता है। 'कामायनी' में भी श्रद्धा को मनु पुल्लिङ्ग में सम्बोधन करते हैं। इसका इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है कि कभी-कभी इस प्रकार बोलना उन्हें सम्भवतः प्यारा लगता हो। लिङ्ग और वचन के साथ भी वे पूरी स्वतन्त्रता लेते थे। कामायनी में ही आधे दर्जन से ऊपर ऐसे स्थल हैं जहाँ लिङ्गवचन की गड़बड़ी मिलेगी। पता नहीं इस विषय में वे कवि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग करते थे या 'पन्त'जी के समान उनकी दृष्टि में भी शब्दों की 'श्री सुकुमारता' आदि बिखर जाती थी। आज तक मेरी समझ में यह नहीं आया कि स्कन्दगुप्त नाटक में उन्होंने 'खिले सूल सब गिरा दिया है' के स्थान में 'खिले फूल सब गिरा दिया है' क्यों नहीं किया। इससे वचन का दोष भी दूर हो जाता और इस पंक्ति का 'हृदय धूल में मिला दिया है' से भी सुन्दर अर्थ बैठ जाता।

'कामायनी' हिन्दी के एक प्रतिभाशाली कवि की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है और चिन्ता, आशा, प्रेम, ईर्ष्या, क्षमा, आनन्द आदि सार्व-कालिक एवं सार्वदेशिक भावनाओं को समेटने के कारण प्रभातकालीन वायु की भाँति इसका रस नित्य नवीन रहेगा।

कामायनी में मनस्तत्व का विवेचन

कामायनी प्रागैतिहासिक महाकाव्य होते हुए भी मनस्तत्त्व का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करती है। व्यष्टि और समष्टि-रूप से मानवता का विकास किन क्रमिक भावनाओं की वीथियों से होकर हुआ है, इसी की रूपकात्मक व्यञ्जना कामायनी की कथा का उद्देश्य है। 'आमुख' में प्रसादजी कहते हैं—"जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को, देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नए युग की सूचना मिली।...यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी निश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" यद्यपि इससे यह व्यक्त होता है कि इतिवृत्तात्मक इतिहास का भावात्मक वर्णन-मात्र कवि को अभीष्ट था, फिर भी कवि मूलकथा को उसी रूप में, उन्हीं अंशों में ग्रहण करता है जिसमें उसकी आध्यात्मिक अथवा रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या अनिवार्य हो जाती है। उन्होंने कथा के सार रूप सत्य को रखा है, केवल व्यक्तित्व अथवा इतिहास को नहीं।

वैवस्वत मनु की कथा शतपथ ब्राह्मण में सिलसिलेवार रूप से वर्णित है। वहीं से प्रसादजी ने ली; छान्दोग्योपनिषद् अथवा पुराणों की कथा को आधार नहीं बनाया। यद्यपि इड़ा के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक विवाद है, फिर भी मानवता के मनोवैज्ञानिक विकास की कहानी सत्य है।

इस प्रकार घटनाओं के ही नहीं, प्रकृति-चित्रण के मूल में भी कुछ ऐसे तात्त्विक भाव हैं जिनके क्रमिक विकास के आधार पर मानव-

संस्कृति की प्रगति हुई है। घटनाओं के नामकरण के आधार भी ये ही मूलभूत भावनाएँ हैं। पर संस्कृत शैली पर जब प्रसादजी ने सर्गों का नामकरण किया तो नवीनता यह रखी कि किसी सर्ग के अन्तर्गत उसका शीर्षक सम्बन्धी भाव का ही नहीं, वरन् उससे सम्बद्ध सभी भावनाओं का समावेश किया। ये भाव इन्द्रधनुष के विविध रंगों से समन्वित हैं। घटनाएँ और प्रगतिवर्णन इन मूल-भावनाओं की प्रतिच्छायामात्र हैं। उद्देश्य इन्हीं के क्रमिक उदय और पर्यवसान द्वारा मानवता का विकास दिखलाना है।

प्रथम 'चिन्ता' सर्ग है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में जल है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

उसी भांति मानवता के आरम्भ में चिन्ता। प्रलय-कालीन जल-प्लावन के उपरान्त मनु चिन्तित, उदास बैठे हैं। प्रकृति में भी नीरवता है। प्रकृति मानव-भावनाओं की अनुगामिनी भी है और उनकी प्रेरणा देने वाली भी। 'चिन्ता' सर्ग में जो अन्य भावनाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं—

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा,
चिन्ता तेरे हैं कितने नाम।

एकाकी अतीत चिन्तन का फल कुछ नहीं होता, चिन्ता का अन्त निराशा से होता है। प्रकृति भी इस सर्ग के अन्त में कुहासा से भरी छोड़ दी गयी है। 'आशा' सर्ग में अरुणोदय होता है—

उषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।

उधर पराजित काल-रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।

प्रभात का सौन्दर्य देखिए—

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय चित्र पराग।

यह स्वर्णिम रमणीयता कौतूहल को जन्म देती है कहाँ वह विध्वंस और कहाँ यह रमणीय सौन्दर्य !

इस कौतूहल का पर्यवसान इस विश्वास में होता है कि इन सभी परिवर्त्तनों के बीच कोई चिरन्तन, अनन्त अपरिवर्त्तन शील भी छिपा है—

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ! क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ?
हे विराट् ! हे विश्वदेव !
तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
मन्द गँभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान !

पर यह केवल सागर का गान नहीं मनु के हृदय की आवाज भी है। इसी अनन्त व्यापक तत्त्व के विश्वास के साथ (जिसमें प्रसाद का रहस्यवाद निहित है) आशा का उदय होता है और तब अहं की भावना अपना रूप धारण करती है—

मैं हूँ यह बरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !

मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में!

यही 'अहं' जीवन के प्रति अनुराग का जनक है जिसकी प्रेरणा मनु को पाकयज्ञ में प्रवृत्त करती है। वे थालियाँ चुन कर अग्नि को प्रज्ज्वलित करते हैं। पूर्व संस्कृति का जिसने प्रालेय लहरों में अस्तित्व खो दिया था अब पुनरुदय होता है। यज्ञ से अवशिष्ट अन्न वे किसी सम्भाव्य जीवित अपरिचित व्यक्ति के लिए रख देते हैं। क्योंकि देवों की निर्बाध आत्मतुष्टि मूलक संस्कृति की प्रालेय असफलता ने उन्हें सहानुभूति का पाठ पढ़ा दिया था। जहाँ मनु के हृदय में यह सहानुभूति उदित होती है वहाँ प्रकृति में चाँदनी खिलती है मानो मानव हृदय और प्रकृति किन्हीं अदृश्य सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़ी हो! संवेदनशील-हृदय मनु को अब अकेलापन खलने लगता है। प्रकृति की नैश मधुरिमा उनके सूने हृदय में समा जाती है। और वहाँ माधुर्य और प्रेम की आकांक्षा तरङ्गित होने लगती है। इस प्रकार 'आशा' सर्ग में क्रमशः ये भावनाएँ हैं—

कौतूहल, विश्वास, आशा, 'अहं-भाव', जीवन के प्रति अनुराग, पूर्व संस्कृति का पुनरुदय, सहानुभूति, संवेदनशीलता, माधुर्य और प्रेम की आकांक्षा।

इसके पश्चात् आशावान् मनु श्रद्धावान् होते हैं वस्तुतः श्रद्धा ही हृदय की वह वृत्ति है जो किसी भी निराश हृदय को सान्त्वना, अवलम्ब, जीवन देने में समर्थ है। श्रद्धा में आत्म-समर्पण और है—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

श्रद्धा में ही वह क्षमता है जो असफल, ठुकराए प्राणों को उत्साह की तरङ्गों से गतिशील बना सकता है और वही मानवता की विजय-

कामना करती है श्रद्धा काम की लड़की है—कामगोत्रजा श्रद्धा। अतः जहाँ श्रद्धा से सान्त्वना, आत्म-समर्पण, दया, माया, ममता, मधुरिमा विश्वास, उत्साह और मानवता की मंगल-कामना की भावनाएँ सम्बद्ध हैं वहाँ उसमें अभिलाषा का मूल भी है।

पर अभिलाषाओं की—काम की, कभी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि वह स्वार्थ, सौन्दर्य और ऐन्द्रिकता के सहारे वासना में परिवर्त्तित हो जाता है, अतः काम के बाद 'वासना' सर्ग है। वासना के उन्माद के आतिशय्य से प्रणय-भाव के उद्घाटन के पश्चात् लज्जा स्वाभाविक है। इसी में श्रद्धा का नारीत्व है। इस प्रकार—चिन्ता और निराशा में एकाकी अतीत-चिन्तन, फिर कौतूहल, फिर क्रमशः विश्वास, आशा, जीवन के प्रति अनुराग, सम्वेदना, फिर श्रद्धा और तदुपरान्त विकास और कामवासना तथा इनके आतिशय्य से लज्जा—यही मनु के जीवन की भावात्मक पहली सीढ़ियाँ रहीं और यही आज भी प्रत्येक के जीवन का मनोवैज्ञानिक क्रम रहता है। जो भावनाओं के नाटक पितामह मनु ने खेले थे, आज भी सभी उन्हें खेलते हैं— सभ्यता का विकास ही इसी सरणी पर हुआ है।

मनु की हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। ऐंद्रिक वासना की दिशा ही और कौनसी होती? मनु—मनन अथवा मन के प्रतीक! मन में हिंसा की उत्पत्ति से कर्म में प्रवृत्ति होती है—मनु को भी हुई थी। आज भी सभी को होती है! हिंसात्मक कर्म की ग्लानि अनुगामिनी है। पर हिंसा में एक बार प्रवृत्ति हो जाने पर कर्म-शृङ्खला मजबूत हो जाती है। कर्म फल के रूप में, अधिकार का भूखा है। पर इसका अनिवार्य परिणाम होता है अतृप्ति, श्रद्धा से विरक्ति अथवा श्रद्धाहीनता, जिसके मूल में सर्वाधिकार-पिपासु मन की असफलताजनित ईर्ष्या की भावना है। यह बुद्धि की ओर संकेत करती है जिसका प्रतीक है इड़ा। इड़ा का एक चित्र देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल !
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान !
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिए !
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए !

इड़ा की मन्त्रणा से ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती है, अधिकार बनते हैं। बुद्धिवाद के द्वारा यंत्रों पर आधारित कृत्रिम सभ्यता का विकास होता है। पर नियन्ता मनु अर्थात् मन को नियमों का पालन सदा असह्य है। निर्बाध अधिकारों की अस्वास्थ्यकर तृषा संघर्ष और विप्लव को जन्म देती है। और तब विद्रोहिनी प्रजा के हाथों सत्ताधारी मनु की पराजय होती है। यहाँ प्रसादजी न केवल व्यक्तिगत मनस्तत्त्व के विकास की विवेचना करते हैं, वरन् सामाजिक मनोविज्ञान (Social psychology) की तह में प्रवेश कर इतिहास की प्रेरणाओं का आवरण हटाते हैं। जब समृद्धि उच्छ्वसित हो उठती है तो प्रलय और संघर्ष और विप्लव सङ्घटित होते हैं। यह संघर्ष मूर्छाजनक है, नाशकारी है। 'इड़ा' की यह उक्ति सत्य ही है—

निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ?

इस बौद्धिक पराजय के अवसर पर श्रद्धा का अनायास उदय होता है जो मन की रक्षा कर लेती है। इड़ा अपनी हार स्वीकार करती है—

मेरा साहस अब गया छूट !

वैभव, विलास और अधिकारों के प्रति संघर्ष-जनित उपेक्षा तथा विराग-भावना निर्वेद की रूपरेखा निश्चित करती है। श्रद्धा का वास्तविक मूल्य अब ही पहचाना जा सकता है। मनु विलास-लालसा को तिलाञ्जलि दे तप के जीवन को अपनाते हैं। परन्तु शुष्क तपस्या श्रांति-जनक है। इस श्रान्ति में श्रद्धा ही का सहारा है। श्रद्धा ही मन को दर्शन की सीमा अतिक्रान्त कर उस रहस्यलोक में ले जाने में समर्थ है जहाँ इच्छा, ज्ञान और कर्म अपने तात्त्विक रूपों में जाने जा सकते हैं,

उनकी गुत्थियाँ खुलती हैं। विश्व की समस्त विषमता इन तीनों के उचित सामञ्जस्य के अभाव के कारण हैं। और अन्त में श्रद्धा की ही प्रेरणा से, उसके ही स्मित-संकेत से इच्छा, ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य हो सकता है जिससे चेतना शाश्वत आनन्द में मग्न हो जाती है। अस्तित्व की यही चरम सार्थकता है ।

इन सभी का सारांश इतना ही है कि श्रद्धा-वृत्ति ही मन को शाश्वत आनन्द तक पहुँचाने में समर्थ है। इड़ा अथवा बुद्धिवाद उसमें बाधक बनता है, पर उसकी पराजय निश्चित है ।

मानवता के मानसिक विकास का यह चित्रांकन, मनस्तत्त्व को यह अपूर्व समीक्षा संसार के साहित्य में कदाचित ही कहीं मिले ! महानवता का महाकाव्य प्रस्तुत कर इसके द्वारा प्रसादजी ने प्रमुख दिशा-साहित्य-स्रष्टाओं के समकक्ष स्थान पाया है ! जीवन के इसी मौलिक विश्लेषण के कारण "कामायनी" अमर रहेगी।



कामायनी का 'काम' सर्ग

जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमालय की ऊँची चोटी पर जा लगती है। भीगे नयनों से वे प्रलय का प्रवाह देख रहे हैं। देव-सृष्टि के विध्वंस पर, अतीत के उन सुखों पर वे चिन्तित हैं। किन्तु जब प्रलय का भयङ्कर दृश्य धीरे-धीरे दूर होने लगा तो सुनहली उषा के साथ मनु के हृदय में भी आशा का संचार हुआ जिसका चित्रण दूसरे सर्ग में हुआ है। आशा का ही व्यक्त रूप है श्रद्धा। श्रद्धा मनोवृत्ति भी है और कामायनी में नारी भी है। तीसरे सर्ग 'श्रद्धा' में मनु और कामायनी का मिलन होता है। नारी के प्रवेश के साथ घटना-चक्र में तीव्रता आती है। वस्तुतः कामायनी के 'कार्य' का प्रारम्भ यहीं से है। दोनों के साक्षात्कार के पश्चात् चतुर्थ सर्ग में काम का चित्रण हुआ है। नारी का आकर्षण मनु के अन्तर्द्वन्द्व का कारण बन जाता है। समस्त सर्ग की घटना को तो एक ही वाक्य में प्रकट किया जा सकता है 'श्रद्धा के सौन्दर्य से आकृष्ट मनु को स्वप्न होता है कि उसे पाना चाहो तो उसके योग्य बनो।' यह अवश्य है कि यह सर्ग, हमारी औत्सुक्य-वृद्धि करता है। हम जानना चाहते हैं कि देखें मनु कौनसे मार्ग को ग्रहण करते हैं। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से यह सर्ग दो स्पष्ट भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) नारी के आकर्षण के बाद मन की प्रतिक्रिया जो मनु की स्वगतोक्तियों में अभिव्यक्त हुई है।

(२) काम का मनु को स्वप्न में आदेश।

'कामायनी' घटना-प्रधान नहीं, वृत्ति-प्रधान है। इसलिए इस काव्य के सम्यक् रसास्वादन के लिए वृत्तियों के स्वरूप-निर्धारण और उनके विश्लेषण को ही विशेषतः लक्ष्य में रखना चाहिए। इसके सर्गों का

नामकरण भी मनोवृत्तियों को लेकर ही हुआ है। प्रसाद ने बड़े उदात्त और व्यापक अर्थ में 'काम' का प्रयोग किया है जैसा कि कामायनी की निम्नाङ्कित पंक्तियों से स्पष्ट है—

काम मङ्गल से मण्डित श्रेय सर्ग,
इच्छा का है परिणाम।

भारतीय शास्त्रों में भी काम की व्यापकता का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है—

कामो जज्ञे प्रथम नैनं देवा
आयुः पितरो न मर्त्याः
ततस्त्वमसि ज्यायानं विश्वहा महांस्ते
काम नमः इति कृण्णोमि ॥

अथर्ववेद ९।२।१९

अर्थात् हे काम, तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तुझसे बचा नहीं। इसलिए इस विश्व में तू व्यापक और सबसे महान् है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो
रेतः प्रथमं यदासीत्।
(ऋक् १०। १२९। ४)

अर्थात् सृष्टि उत्पति के पहले मन की सर्वव्यापिनी बुद्धि का मूल तत्व काम प्रकट हुआ। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की भावना से ही सृष्टि का प्रसार हुआ। गीता में भी धर्म से अविरुद्ध काम को ईश्वरीय विभूतियों में शामिल किया गया है।* मनुस्मृति में भी 'यद् यद्धि क्रियते कर्म'

*धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।
गीता अध्याय ७–११

जो भी कर्म किया जाता है, वह सब काम की चेष्टा है।
—मनुस्मृति

तत्तद्धि कामचेष्टितम्' कह कर काम की व्यापकता का स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है। भारतीय शास्त्रों में धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ काम की भी चतुर्वर्ग में गणना की गई है। किन्तु काम का अर्थ आज बिगड़ गया है। यह इन्द्रिय लिप्सा के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय साधकों और उपदेशकों ने वैराग्य-भाव जागृत करने के लिए क्रोध, लोभ आदि के साथ काम को षड्रिपुओं में गणना की, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में काम को बाधक समझ कर उसे वर्ज्य ठहराया गया। देवों में परिगणित किये जाने पर भी कामदेव, वर्जित देव ही समझे गये। काम की महती सर्जनशीलता और अदम्य प्रेरक शक्ति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का श्रेय फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों को है। फ्रायड ने काम-भावना को मूल शक्ति माना। मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे इस शक्ति की प्रेरणा रहती है। भोग और संयोग की इच्छा स्वाभाविक है किन्तु वह तो पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है; काम का परिशोध ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। दया, ममता, त्याग आदि उदात्त वृत्तियाँ काम-भावना के परिशोध के ही परिणाम हैं। हिन्दी साहित्य में सम्भवतः प्रसाद ही सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने 'कामायनी' के द्वारा काम का उदात्त और व्यापक रूप हिन्दी जनता के समक्ष रखा। मैं इसे प्रसाद की बड़ी भारी देन मानता हूँ कि सौन्दर्य, प्रेम और दर्शन के इस कवि ने काम का इस प्रकार वर्णन किया है जैसे यह विशुद्ध भारतीय विचार-धारा हो। श्रद्धा को काम और रति की पुत्री के रूप में देखना भी प्रसाद की नई अवतारणा है जो सामान्य पाठक को एकदम आश्चर्य में डाल देती है। कामायनी मनु से कहती है—

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

काम की पुत्री के पास कहाँ से आये ये मानवोचित गुण, यदि काम केवल उच्छृङ्खल वासना का ही दूसरा नाम हो किन्तु वस्तुतः

प्रसाद ने मङ्गल से मण्डित श्रेय के रूप में ही काम का वर्णन किया है। कामायनी के मनु ने काम के परिमार्जित रूप का प्रयोग नहीं किया, इसीलिए काम को कहना पड़ा।

"पर तुमने तो पाया सदैव
उसको सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौन्दर्य—जलधि से भर लाये,
केवल तुम अपना गरल पात्र॥
× × ×
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का
प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया।
हाँ, जलन-वासना को जीवन-
भ्रम तम में पहला स्थान दिया॥

कामायनी काम और रति की पुत्री क्यों है? अब हम इस प्रश्न पर बड़ी आसानी से विचार कर सकते हैं। काम भावना का उदात्त रूप दया, माया, ममता, भक्ति आदि गुणों की सृष्टि कर सकता है और श्रद्धा इन्हीं गुणों की मूर्तिमन्त रूप है। केवल भोगेच्छा के सीमित अर्थ से आगे बढ़ कर यदि हम काम और रति के व्यापक अर्थ पर ध्यान दें तो काम और रति की सन्तान के रूप में कामायनी की कल्पना बड़ी उपयुक्त जान पड़ती है। प्रसाद ने काम को आकांक्षा तथा रति को तृप्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है—

"हम भूख-प्यास से जाग उठे,
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में।
× × ×
मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको।"

मान लीजिए, हमारे मन में सत्य की कामना का उदय होता है,

गांधी जैसे महापुरुष में जब हम सत्य की पूर्ति देखते हैं तब हमारी आकांक्षा को तृप्ति का रूप मिलने के कारण गाँधीजी के प्रति हमारे हृदय में श्रद्धा का जन्म होता है। इस प्रकार काम और रति से अथवा आकांक्षा और तृप्ति से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है।

व्यापक अर्थ में काम आकांक्षा का ही पर्याय है। आकांक्षा में भोगेच्छा भी शामिल है किन्तु 'काम' उसी तक सीमित नहीं। काम यदि व्यापक है तो भोगेच्छा व्याप्य है। देव-शरीर में मनु ने खूब उपभोग किया था। श्रद्धा से साक्षात्कार होने पर पुराने संस्कारों के कारण उनमें 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा का उदय हो रहा है। काम के उद्रेक के समय मनु को ऐसा जान पड़ता है जैसे जीवन रूपी वन में वसन्त का आगमन हो गया हो। वसन्त के आने पर कोकिल मतवाली होकर कूकने लगती है, काम के आगमन पर मन उमङ्गों से भर जाता है, मन की वीणा राग अलापने लगती है हृदय की कोकिल कूक उठती है। कहीं-कहीं तो प्रसाद ने बायरन की तरह सौन्दर्य के प्रभाव का बड़ा तीव्र तथा व्यक्तिगत अनुभूतिमय वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

"जब लीला से तुम सीख रहे,
कोरक-कोने में लुक रहना।
तब शिथिल सुरभि से धरणी में,
बिछलिन न हुई थी? सच कहना।"

कितने ऐसे हैं जो कामिनियों के कटाक्ष-पात से विचलित नहीं हो जाते, फिसल नहीं जाते? अपनी अनुभूति के बल पर इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर जैसे प्रसाद सुनना ही नहीं चाहते क्योंकि यथार्थ जीवन की सचाई तो इस प्रश्न के स्वीकारात्मक उत्तर में ही निहित है।

"है स्पर्श मलय के झिलमिल सा
संज्ञा को और सुलाता है;
पुलकित हो आँखें बन्द किये

तन्द्रा को पास बुलाता है।
व्रीड़ा है यह चञ्चल कितनी
विभ्रम से घूँघट खींच रही;
छिपने पर स्वयं मृदुल कर से
क्यों मेरी आँखें मीच रही !"

मनु कहते हैं मुझे ऐसा लगता है जैसे शीतल मन्द पवन के स्पर्श की तरह किसी ने मेरा स्पर्श कर लिया हो जिससे मेरी आत्म-चेतना जैसे जाती रही है। रोमाञ्च हो रहा है, आँखें बन्द हो रही हैं और झपकी-सी आ रही है। मुझे ऐसा लगता है जैसे किसी लज्जाशील नायिका ने विभ्रम से घूँघट निकाल लिया हो, जो स्वयं छिपने की चेष्टा करती है किन्तु फिर भी पीछे से आकर मुझ से आँख-मिचौनी का खेल-खेल रही है। प्रेम के इस प्रकार के शारीरिक अनुभावों पर लोगों ने आपत्ति भी की है। आदर्शवादियों के प्रभाव से यह परम्परा पड़ चुकी थी कि प्रेम का खुला रूप काव्य में प्रदर्शित न किया जाय। प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रण और प्रेम-काव्य में हम अतृप्ति-मूलक वासना पाते हैं। एक साथ ही इतना वासनामय और इतना दार्शनिक कवि हिन्दी-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ।

बाह्य सौन्दर्य ही सब कुछ है या "सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है ?" यह प्रश्न रह-रह कर मनु के हृदय में उत्पन्न होता है। अनन्त के प्रति अपनी आकुल आकांक्षा की भावना से प्रसाद ने कामायनी के मनु को भी आवेष्टित दिखलाया है। अनन्त के रहस्य उद्घाटन की कल्पना से मनु आल्हादित हो उठते हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। प्रसाद के अनन्त ने भी चाँदनी सदृश्य सुसज्जित आवरण अपने मुख पर डाल रखा है। क्या ही अच्छा हो यदि यह आवरण हट जाय जिससे उस दिव्य रूप का दर्शन हो सके! ऐसा दर्शन जिसमें परमात्मा शेषनाग की तरह कल्लोल करता हुआ और आनन्द की लहरियों में विचरण

करता हुआ दिखलाई पड़े (अथवा आसमान की तरह जिसमें शब्द भरा हुआ है और जो शब्दों की लहरों में विचरण करता है। पीथा-गोरस के 'नक्षत्र-सङ्गीत' की ओर भी अव्यक्त संकेत हो सकता है जिसके अनुसार आसमान में विचरण करने वाले नक्षत्र गीत गाते हुए चलते हैं), शेषनाग के झागयुक्त फन की तरह (अथवा आसमान की आकाश गङ्गा की तरह) अपना वरद हस्त उठाये हुए हो और अनन्त शेषनाग की अनन्त मणियों की तरह अथवा आकाश के असंख्य नक्षत्रों की तरह वरदान रूपी मणियों का जाल लुटा रहा हो, जो अपनी निद्रा से जाग उठा हो और उन्मत्त होकर कुछ गा रहा हो। कवि के ही शब्दों में—

"चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं,
अवगुण्ठन आज सँवरता सा;
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा,
लहरों में मस्त विचरता सा—
अपना फेनिल फन पटक रहा,
मणियों का जाल लुटाता सा;
उन्निद्र दिखाई देता हो,
उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।"

ऊपर की पंक्तियों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है जैसे परमात्मा कोई सुन्दर स्त्री हो जिसने अपने मुख पर घूँघट डाल रखा है। कबीर ने आत्मा रूपी स्त्री के घूँघट का उल्लेख किया है,* प्रसाद अनन्त के अवगुण्ठन का वर्णन कर रहे हैं।

मनु विकट परिस्थिति में पड़ जाते हैं। सोचते हैं कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ वह सब क्या माया उलझन है? लेकिन बाद में मनु का चेतन मन इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि संयम का मार्ग छोड़ कर

*घूँघट के पट खोल री तोहि पिय मिलेंगे—कबीर

मैं सौंदर्य का उपभोग करूँगा। हमारे अवचेतन मन में बहुत सी अतीत कालीन स्मृतियाँ इकट्ठी होती रहती हैं। मनु अपनी जाग्रत अवस्था में तो एक निश्चय पर पहुँच जाते किन्तु रजनी के पिछले पहरों में उनको एक आदेशात्मक स्वप्न आता है जिसमें काम उच्छृङ्खलता के दुष्परिणाम और संयम की मङ्गलमयी सम्भावनाओं की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जाग्रत अवस्था में जब किसी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलती तब हमें आदेशात्मक स्वप्न आया करते हैं। निम्नलिखित आदेशात्मक स्वप्न के साथ ही इस सर्ग की समाप्ति हुई है जिसमें नाटकीयता का अच्छा समावेश हो गया है—

"उसके पाने की इच्छा हो तो
योग्य बनो" कहती कहती
वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती।
मनु आँख खोल कर पूछ रहे:—
"पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव! कहो
कैसे कोई नर पाता है?"
पर कौन वहाँ उत्तर देता
वह स्वप्न अनोखा भङ्ग हुआ।

'काम' सर्ग मनोविज्ञान, काव्य और दर्शन का सुन्दर समन्वय है—

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े;
अपने आलस का त्याग किये।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के,
अन्तर में उसकी चाह रही॥

आदि पद्यों में सांख्य दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली विचार-धारा

स्पष्ट है। सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। साम्यावस्था में प्रकृति का उन्मीलन या आविर्भाव नहीं होता। वह प्रकृति के आलस्य की दशा है। वैषम्य में सृष्टि उत्पन्न होती है। कर्त्तृत्व उत्साह है और अकर्तृत्व आलस्य। 'परमाणु बाल सब दौड़ पड़े' में कणाद के परमाणुवाद की स्पष्ट झलक है।

किसी ने कहा है कि पन्त के सौन्दर्य-चित्रों में प्रकृति ही मनुष्य बन गई है, प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रों में मनुष्य ही प्रकृति बन गया है। प्रसाद का प्रकृति-वर्णन मानव-सापेक्ष है। 'काम सर्ग' में वसन्त का सा वर्णन नहीं है, उस वसन्त का वर्णन है जिसका सम्बन्ध मनु के जीवन से है।

कामायनी ध्वनि-प्रधान काव्य है। 'काम सर्ग' में ध्वनि है अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

अपना कलकण्ठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कलकल में।

ध्वनि यह है कि झरनों से जो कलकल शब्द हो रहा था वह काम की ही ध्वनि थी अर्थात् कल-कल करते हुए झरनों से काम-भावना जाग्रत होती थी। 'है भीड़ लग रही दर्शन को' में श्लिष्ट दर्शन पद के आधार पर ध्वनित होता है कि दर्शनों का वाग्जाल उस दिव्य ज्योति के साक्षात्कार में बाधक होता है। 'नक्षत्रो! क्या तुम देखोगे इस ऊषा की लाली क्या है?' इस पंक्ति में अप्रस्तुत प्रतीक विधान भी बहुत उपयुक्त हुआ है। हे दमसंयम का जीवन व्यतीत करने वालो, विलासिता के आनन्द का तुम्हें क्या पता? इस प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना के लिए ही उक्त पंक्ति का प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य और अनुराग के प्रतीक के रूप में ऊषा की लाली का चित्रण और अन्धकार में टिमटिमाते हुए नक्षत्रों से संयमी लोगों की तुलना मनु की मनोदशा देखते हुए बहुत ही उचित है। काली रात में टिमटिमाते हुए नक्षत्र 'ऊषा की लाली' को क्या समझेंगे बेचारे!

कहीं-कहीं बहुत ही फड़कती हुई पंक्तियों का प्रयोग इस सर्ग में हुआ है—'क्या तुम्हें देख कर आते यों मतवाली कोयल बोली थी?' अपने मोहक आकर्षण में यह पंक्ति कितनी बेजोड़ है! प्रसाद एक साथ ही दार्शनिक और कवि दोनों हैं और ऐसा दार्शनिक कवि ही चिरकाल तक जीवित रहता है अपने विचारों की सावदेशीयता आदि के कारण।

प्रसाद के नाटक

मूल-चेतना

शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबा कर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूल रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नील हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था, वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीपिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह जहर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्व नहीं देगा—प्रायः वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा—एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण (जैसा रोमान्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है) वह पुरातन की ओर जायगा—या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार—

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य—हर्ष) जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था—

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है—

"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का सङ्गठन कर लेगा।"

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे।······विश्व-मैत्री हो जायगी, विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"

इन्हीं दोनों धूपछांही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम-स्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरोत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को

फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारी वर्त्तमान ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए, उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-ज्ञान का आधार, प्राचीन शिलालेख, पाणिनि-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्राचीन-काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमाण्टिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोज अपना स्वतन्त्र महत्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को छोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण-सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में भी है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय संस्कृति इन तीनों को लाँघ कर आर्य-संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरोत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम वेशभूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महावलाधिकृत; कुमारामात्य, आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट

प्रतिविम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठ कर प्रसादजी को देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है—

मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण बध किया है! प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरो! ठहरो, यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा। आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

'मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।'

'आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।'

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसादजी की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फिट करदी गयी हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता मात्र प्रगट करते हैं।

सुख-दुख की भावना—

प्रसाद के नाटकों के मूल तत्व को समझाने के लिए उनकी सुख-दुख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं, परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है? नहीं! नाटक के ऊपर दुख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्य-पूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध इतिहास और दर्शन के मंनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाव-वश उनके नाटक न पूर्णतः सुखान्त हैं और न दुःखान्त, उनमें सुख-दुःख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रह-पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

सिल्यूकस—(कार्नेलिया की ओर देखता है। वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी......आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि)

चाणक्य—(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हम लोग चलें।

इस प्रकार आप देखते हैं कि ये नाटक सुखान्त अथवा दुखान्त न हो कर प्रसादान्त हैं। इसका एक प्रमाण और है वह है रस का

परिपाक। इन नाटकों में मुख्य रस दो हैं शृङ्गार और (देशभक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है—शृङ्गार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप यौवन के चटकीले चित्र जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्म-गौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तरतम की पुकार ही है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्म्मा की देशभक्ति कर्त्तव्य-पूर्ति नहीं आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल नीति-मुखर ही नहीं है, उनमें हृदय का आक्रोश है।—परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस, शान्त भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है, तभी शान्त रस के शीतल छींटे उसे शान्त और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है—और यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादान्त' है।

चरित्र-प्रधान नाटक—

स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है। प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अमर पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और सनकी तत्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ और तीखा है! कारण यह है कि पात्रों में प्राण फूँकने वाली प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजी के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था—उसकी गति प्रेमचन्द की तरह विस्तार में अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु अन्दर गहराई में बहुत दूर पहुँच

गयी थी। वे अत्यन्त प्राणवान् कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूप-रेखा को काट-छाँट कर इतना तीखा कर दिया था।—एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने आप को सृष्टि में व्यक्त किया है। प्रसाद के दर्शन-कवित्व-मय व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किया है। पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं—(१) जीवन के तत्वों को सुलझाने वाले तत्व-वेत्ता आचार्य, (२) जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझने वाले कर्मठ सैनिक, (३) राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेच सिखाने वाले कूट-नीतिज्ञ। स्त्रियों में भी स्पष्टतः कई श्रेणियाँ हैं—१—राजनीति की आग से खेलने वाली राजमहिषियाँ, २—जीवन-युद्ध में प्रेम का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजपुत्रियाँ, ३—जीवन के भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ और ४—अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ। बौद्ध और शैव दर्शन के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग से परिपुष्ट, पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसादजी ने सभी चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है। स्वभावतः उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहाँ शेक्सपियर जैसे नाटककारों में कौनसा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है, यह पता लगाना असम्भव है वहाँ आप प्रसादजी के व्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चंद्रगुप्त, चाणक्य, किसी भी चरित्र में थोड़ी बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचंद, प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट और कोमल का अपूर्व संयोग है—जिस लेखक ने कामायनी के विराट रूपक की सृष्टि की है, उसी ने अनेक मधुस्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं:—१ सम्पूर्ण चित्र, २ रेखा चित्र। पहले चित्र कवि की विराट भावना से प्रसूत हैं, उनका सम्पूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है, स्वभावतः यह चित्र समस्त नाटक की दीवार को घेरे हुए रहता है—चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। अजातशत्रु की मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रङ्ग नहीं—इनमें एक रेखा है और एक धुँधला रेशमी रङ्ग है—एक ही स्वर है 'संगीत सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान धूपदान की एक क्षीण गंध-धूमरेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ—इन सबों की प्रतिकृति' हैं ये नारी-चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र-प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रैजैडी की सार—प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

मधु-वेष्ठन—

प्रसाद के नाटक मधु से वेष्ठित हैं—प्रसाद मूल रूप में कवि हैं अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रङ्गीन स्पन्दन

है। प्रसाद ने अपनी रङ्गीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया, अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रङ्ग से जगमगा रहा है। सबसे प्रथम उनके गीतों को ही लीजिए—यह सत्य है कि यह सभी गीत नाटकीय नहीं हैं, कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रङ्ग, एवं बिलास की उष्ण-गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति सञ्चरण करती रहती है। यही बात वस्तु-विधान और चरित्रांकन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं—अँधेरी रात में मागन्धी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व-त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान सभी कुछ एक मूक कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत सञ्चार हो रहा है—इनमें से कतिपय तो एकान्त कवित्वमय हैं, उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता को साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिल कर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं—इनके अतिरिक्त प्रायः और सभी पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। उनके संवाद और भाषा का रसीलापन तो दोष की सीमा तक पहुँच गया है। ये नाटक गद्य-गीतों का अक्षय भण्डार हैं।

१—"अकस्मात् जीवन कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कह कर सब को रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है। और राजकुमारी! वही काम-संगीत की ध्वनि सौन्दर्य की रंगीन लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिए—वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त का नहीं काव्य का आग्रह है। देखिए स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य।

स्कन्दगुप्त—देवी यह न कहो! जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये। परन्तु इस नन्दन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ? देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ! हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह!!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्! यदि इतना भी न कर सके तो क्या? सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिए! मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!

(घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है)

दोष—

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं—सबसे पहला दोष रङ्गमञ्च विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। उनमें वृद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर

काफी गड़बड़ करेंगे। दूसरे उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चांचल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है। दूसरा बड़ा दोष है एकता (Unity) का अभाव। उसके लिये शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुःख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। राज्यश्री या ध्रुवस्वामिनी में वस्तु-विस्तार कम होने से यह नहीं आया ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है परन्तु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना बाहुल्य में फँसकर नाटक की यूनिटी अस्त व्यस्त हो गयी है। इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं। स्कन्दगुप्त में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों का क्या प्रयोजन है? 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहाँ एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है। तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबरदस्ती गला घोंट देना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

इस प्रकार इन नाटकों का महत्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रेजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरोत्थान की चेतना, उनके महान्-कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उसकी ज्योति मलीन नहीं पड़ सकती।

प्रसाद-कालीन नाट्य साहित्य: प्रवाह और प्रक्रियाएँ



कला को मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण कहा गया है। ललित कलाओं में लोकरञ्जनकारिणी शक्ति के अतिरिक्त सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण अनिवार्य है। साहित्य का ललित-कलाओं में सर्वोच्च स्थान है। साहित्य का ललित-कलात्व तथा लोक-हित सम्पादन उसके मनस्तत्व पर ही निर्भर है। इसीलिए साहित्य को मानवता का मस्तिष्क कहा गया है। साहित्य हित की भावना के साहित्य का द्योतक है। अथवा वह लोक-हित सम्पादन की भावना का द्योतक है, मानववाणी का वह लोक कल्याणकारी चिरंतन कोष है जो देश अथवा काल की सीमा में सीमित नहीं। यद्यपि साहित्य प्रभा की सृष्टि है और प्रतिभा में अनुकरण (Imitation) नहीं तथापि एक की एक प्रतिभा से निःसृत कलागत सौन्दर्य दूसरे प्रतिभावान कलाकार के लिए प्रेरक-शक्ति का रूप धारण कर सकता है। उदाहरणार्थ एक साहित्यकार के विचार हमारे मानव को प्रभावित कर सकते हैं और एक नवीन दिशा में हमें प्रेरित करने में भी समर्थ हो सकते हैं। निष्कर्ष यह कि काव्यगत सौन्दर्य प्रेरक हो सकता है। वास्तव में यही तो उसकी उपादेयता है। यह प्रेरणा-शक्ति नवीन दिशा में चिन्तन अथवा साहित्य-सृजन का कारण हो सकती है। एक अन्य दिशा में भी प्रेरणा का ग्रहण हो सकता है। अभी मैंने कला के एक ही पक्ष का निर्देश किया है। कला की पूर्णता (Perfection of art) के लिए उसका बाह्य-तत्व सुषमा (Symmetry) भी अनिवार्य है। कला के बाह्य-रूप अथवा शरीर पर भी कलागत सौन्दर्य अपना प्रभाव डाल सकता है, अपनी

अमिट छाप छोड़ सकता है। दोनों ही दिशाओं में यह प्रभाव साहित्य के स्वतन्त्र और स्वस्थ-विकास का कारण हो सकता है। प्रथम दिशा में केवल अनुकरण से अथवा प्रतिभा व योग्यता के दोष से तथा दूसरी दिशा में साधना के अभाव से अथवा केवल बाह्य अनुकरण से साहित्य सृजन में तथा साहित्य के स्वस्थ-विकास में बाधा हो सकती है।

पूर्वकृत विवेचन में मैंने कला-सम्बन्धी आदान-प्रदान का रूप बतलाया है। अब हम उसके प्रकट रूप का साहित्य के उदाहरणों में प्रत्यक्षीकरण करें। दो क्षेत्रों में प्रत्यक्ष उदाहरण प्राप्त होते हैं, प्रथम एक भाषा अथवा एक जातीय साहित्य पर दूसरी भाषा या दूसरे साहित्य अथवा विदेशी साहित्य का प्रभाव, तथा द्वितीय एक ही भाषा के साहित्य में या एक ही जातीय साहित्य में एक व्यक्ति का या उसके व्यक्तित्व का काल विशेष पर प्रभाव। प्रथम क्षेत्र में प्रभाव की क्रिया दोनों ओर या एक ही ओर हो सकती है, द्वितीय में यह क्रिया उभयमुखी होती है। दोनों प्रभावों के प्रतिफलन से कला का स्वतन्त्र विकास सम्भव है। प्रथम क्षेत्र में सब साहित्य एक दूसरे के ऋणी हो सकते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि परस्पर दो भाषा के साहित्यों में आदान-प्रदान की दुहरी क्रिया पाई जाय। द्वितीय क्षेत्र में प्रतिभाशाली और प्रभावान्वित के सम्बन्ध में यही बात कही जा सकती है पर प्रतिभावान साहित्यकार का उनके काल या युग-विशेष से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। साहित्य में युग-प्रवर्तन तथा (School) सम्प्रदाय का जन्म इसी दुहरी प्रक्रिया (Double process) से होता है।

अब हिन्दी-साहित्य के प्रत्यक्ष उदाहरणों का निरीक्षण करें। आधुनिक-काल के नवीन विकास में मूल चेतना सम्पूर्ण जीवन की सर्वाङ्गीण आलोचना है जो हमें पाश्चात्य साहित्य से प्राप्त हुई है। विशेषकर आंग्ल-साहित्य का हिन्दी के जातीय-साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा है वह दोनों रूपों में परिलक्षित होता है, साहित्य की आत्मा-भाव

में तथा बाह्य रूप-कला में। साहित्य की सभी श्रेणियों में यह उभयमुख प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। रीति-कालीन युग का साहित्य तत्कालीन संकुचित दृष्टि का परिचायक है। आधुनिक युग में खड़ी बोली का प्रयोग तथा गद्य का नव-विकास उसी मूल चेतना का परिणाम है। गद्य और पद्य की भाषा में एकता तथा गद्य का अत्यधिक प्रयोग एक ही मूल-चेतना के दो बाह्य रूप हैं। फल-स्वरूप गद्य और पद्य दोनों ही में जब साहित्य-सर्जना हुई वह गत एक सहस्र वर्षों के इतिहास में अभूतपूर्व है। दृष्टि-विस्तार से हिन्दी के आधुनिक-काल की युगल विशेषताएँ (गद्य और पद्य की भाषा का एकीकरण और गद्य का अधिकाधिक प्रयोग) युग तथा साहित्य की अनिवार्य विशेषताएँ हो गईं। बुद्धि तथा विज्ञान के इस युग में इन विशेषताओं की उपादेयता कौन नहीं जानता ? जीवन के सम्बन्ध में दृष्टि-विस्तार तथा तदनुरूप परिवर्तित साहित्यिक दृष्टिकोण ही साहित्य की विभिन्न श्रेणियों के सर्वतोमुख विकास का उत्पादक कारण (Productive cause) है। उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है। रीति-कालीन युग में दृष्टि शृङ्गार की ओर थी और नारी कविता-केन्द्र थी। तथापि नारी का सम्पूर्ण चित्रण उस काल के साहित्य में दुर्लभ है। नारी-चरित्र की दुर्बोधता, उसके जीवन के विभिन्न पार्श्वों तथा शक्ति की विशद और गम्भीर आलोचना तत्कालीन साहित्य में प्राप्त न होगी। उसके शृङ्गार का विवेचन तथा प्रेमी जीवन के चित्र अवश्य सुलभ होंगे। नवीन-युग के आगमन ने साहित्य तथा जीवन के नवीन मूल्यों की सूचना दी। फलस्वरूप साहित्य के आदर्श बदले। नाटकों का तो इसी युग में कायाकल्प हुआ और भारतेन्दु-काल से ही उनका सूत्रपात आरम्भ हुआ। उपन्यास और आख्यायिका का भी, अर्थात् समस्त कथा-साहित्य का विकास पाश्चात्य आदर्श के अनुकरण पर हुआ। मेरा आशय यह नहीं कि उपन्यास और आख्यायिका भारतीय साहित्य में अप्राप्य या नवीन वस्तुएँ थीं। उनका बाह्य रूप अवश्य पश्चिम से ग्रहण किया गया है। यही बात

एकांकी नाटकों के सम्बन्ध में है। भाण, प्रहसन, वीथी और अङ्क (उत्सृष्टिकांक) एकांकी के ही उदाहरण हैं। तथापि आधुनिक एकांकी का बाह्य ढाँचा तथा उसके आदर्श पश्चिमीय ही हैं। कविता के सम्बन्ध में पाश्चात्य प्रभाव तथा साथ ही अनुकरण से आया हुआ दोष भी स्पष्ट वर्तमान है। आधुनिक-युग गीति-काव्य का युग है यद्यपि उसमें श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्यों की रचनाएँ भी हुई हैं। हिन्दी के प्रगीत मुक्तकों में बाह्य रूप अनुकरण पर आधारित है, किन्तु बाह्यरूप में पूर्णता प्राप्त कर लेने से कला की पूर्णता नहीं होती। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने गीति-शैली का भी पर्याप्त प्रयोग किया है, किन्तु उनकी सारी प्रतिष्ठा प्रबन्ध कवि के रूप में ही है। जयशङ्कर 'प्रसाद' हिन्दी कविता में छायावाद के प्रवर्तक हुए जिनके गीतों में उपयुक्त भावाभिव्यञ्जना है, शब्द-शक्ति का विकास भी है परन्तु गीतोपयोगी माधुर्य्य और प्रसाद-गुण का अपेक्षाकृत अभाव पाया जाता है। इस दृष्टि से सुमित्रानन्दन पन्त का प्रयत्न अभिनन्दन के योग्य है। महादेवी और निराला में भाव-प्रवणता है किन्तु पन्त का-सा माधुर्य्य नहीं। हिन्दी प्रगीत मुक्तकों में स्वतन्त्र भावनाओं की सुन्दर व्यञ्जना तो पाई जाती है पर ऐसे गीतों की संख्या अल्प ही है जिनमें भावना तीव्रता की सीमा को पहुँचाई गई हो। यही विशेषता गीति-काव्य की अनिवार्य विशेषता है जो न तो अनुकरण से सम्भव है न कला के बाह्य उपकरण की पूर्ति से। वह तो प्रतिभा तथा साधना से ही संभव है।

आंग्ल-साहित्य के प्रभाव का दिग्दर्शन करते हुए उदाहरण-स्वरूप मैंने गीति-काव्य का विवेचन किया है। अब इसी सम्बन्ध में हिन्दी नाट्य-क्षेत्र पर एक दृष्टि डाली जाय। हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास अर्वाचीन है, वह आधुनिक विकास ही की कहानी है। नाट्य-साहित्य के अध्ययन के अनन्तर इस निष्कर्ष में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि आधुनिक हिन्दी नाटकों के विकास की इतिहास-सामग्री नाट्य-क्षेत्र में

विभिन्न प्रयोगों का विवेचन ही है। यह बात बिना किसी सङ्कोच के हिन्दी के पूरे नाट्य-साहित्य के विषय में कही जा सकती है। फिर बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास अथवा वर्तमान-कालीन इतिहास तो ऐतिहासिक नाटक, दुःखान्त नाटक, सामाजिक नाटक, समस्या नाटक, प्रहसन, प्रभृति विभिन्न दिशाओं में विविध प्रयोगों का ही इतिहास है। शैली से सम्बद्ध विभिन्न प्रयोगों में सबसे व्यापक और प्रभावशाली प्रयोग 'प्रसाद' का है और उनकी शैली का विकास पूर्णता को पहुँच चुका है। शेष प्रयास अभी विकास की अवस्था में है। 'प्रसाद' जो युग-प्रवर्तक नाटककार हैं। उनके प्रयोग की पूर्णता उनकी प्रतिभा, अध्ययन और साधना पर निर्भर है। उनमें कई विशेषताएँ हैं जो अन्य नाटककारों में दुर्लभ हैं—कवित्व, दार्शनिकता और प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ज्ञान। उनका नाट्य-शैली सम्बन्धी प्रयोग समन्वय-मार्ग का है जिसमें उन्होंने मार्ग-प्रदर्शन भी किया है। अन्य प्रयोग इतने सशक्त नहीं। उदाहरणार्थ हिन्दी प्रहसन कोरे अनुकरण पर अवलम्बित हैं, उनमें कला की पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं होती। दुखान्त नाटकों के क्षेत्र में राय महोदय का प्रयोग भी बहुत अंशों में सफलता के साथ किया गया है पर यहाँ भी कवित्व-शक्ति की अपेक्षाकृत कमी है। राय की शैली का आदर्श 'नूरजहाँ' में है जिसमें हृदय के आन्तरिक द्वन्द्व पर ही नाटक का सारा आकर्षण और सौन्दर्य आधारित है। 'प्रसाद' की भावुकता की सीमा उक्त नाटक में पाई जाती है। भावुकता के इस आतिशय्य के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई उसका प्रयोग भी अनुकरण पर आधारित है। पश्चिम के समस्या नाटक के अनुकरण पर जो प्रयोग आरम्भ हुआ उसमें उक्त विशेषता कुछ अंशों में रह हो गई है। अतएव भावुकता हिन्दी नाटकों की अनिवार्य विशेषता हो गई है। अस्तु, स्वाधीनता (प्रतिक्रियाजन्य) इस प्रकार के नाटकों की शैलीगत-नवीनता (Novelty in technique) है। 'प्रसाद' के प्रयोग

से इस प्रयोग की तुलना करें तो इस नवीन प्रयोग में स्थिरता की क़मी परिलक्षित होगी। न आदर्श की वह पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और न शैली की वह पूर्णता जो स्थिर रूप को प्राप्त हो, नाट्य-क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करती है। संक्षेप में निष्कर्ष यह कि इस श्रेणी के नाटकों में आदर्श तथा शैली दोनों की वह पूर्णता परिलक्षित नहीं होती जो 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में होती है।

आगे के विवेचन को हम दो भागों में विभक्त करेंगे, प्रथम हिन्दी नाट्य-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ तथा द्वितीय हिन्दी नाट्य साहित्य के युग-प्रवर्तक तथा हिन्दी-नाट्य-क्षेत्र में उनकी साहित्यिक सेवा। आरम्भ में तो भारतीय-नाट्य-साहित्य का ही उल्लेख किया जा सकता है जिसकी विख्याति प्राचीन काल में उच्चतम अवस्था (Zenith) को पहुँच चुकी थी। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र जैसे उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ के अस्तित्व से ही ईसा के पूर्व संस्कृत के नाटकों के विकास का पता चलता है। धर्म-भावना से ये नाटक विकसित हुए तथा गीत और नृत्य का सदा सहयोग रहा। हिन्दी का सारा नाट्य-साहित्य इन्हीं विशेषताओं के विकास का जीता जागता उदाहरण है। भारतेन्दु के पूर्व जो काव्यात्मक नाटक उपलब्ध होते हैं वे संस्कृत के उत्तरकालीन नाटकों के अनुकरण पर रचे गये हैं। विषय धर्म तथा भक्ति-भावना हैं और चरित्र भी पूर्व परिचित राम और कृष्ण ही हैं। भारतेन्दु की नाट्य-कला का आदर्श प्राचीन ही रहा अतएव प्राचीन भारतीय–नाट्य-कला का प्रतिनिधित्व उनके नाट्य-साहित्य में पाया जाता है। पाश्चात्य प्रभाव के आगमन के पूर्व तक यह आदर्श पूर्व-प्रतिष्ठित ही रहा। तृतीय उत्थान के पूर्व विदेशी प्रभाव का आगमन आरम्भ हुआ जो प्रस्तावना के क्रमशः लोप तथा नवीन शैली के क्रमशः ग्रहण में व्यक्त हुआ और इस प्रकार भारतीय शैली के एकाधिपत्य का क्रमिक अवसान हुआ।

'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में शैली और नाटकीय आदर्शों का जो समन्वय पाया जाता है उसके मूल तन्तु इसी, भारतीय नाट्य-

साहित्य में पाये जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय शैली की अनेक विशेषताओं को बचाये रखने के द्वारा ही 'प्रसाद' का समन्वय मार्ग स्थिर हुआ है ! ऐसी विशेषताओं के चिह्न उनकी नाट्य-शैली में अवश्य वर्तमान हैं। किन्तु भग्नावशेष के रूप में नहीं; नव-विकास के रूप में तथा समन्वय का आदर्श साथ लिये हुए। एक महान् विशेषता भारतीय रस-विधान तथा पाश्चात्य शील-वैचित्र्य के समन्वय की है। दूसरी महान् विशेषता नाटकों के पर्य्यवसान के सम्बन्ध के आदर्श में है। सुख और आनन्द में पर्य्यवसान के लक्ष्य का परिवर्तित रूप शान्तिमय वैराग्य की भावना में पर्य्यवसान भारतीय रुचि और आदर्श का द्योतक है। इनसे भी महत्त्व की अन्य बात है 'प्रसाद' की भारतीयता तथा उनका भारतीय संस्कृति-प्रेम उनकी अन्य विशेषताओं में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। अपने ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय जीवन के आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा करके तथा भारत के उन्नत काल के वीरोचित और उच्च आदर्श उपस्थित करके उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता, भारतीयता तथा संस्कृति का परिचय दिया। यही 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य का लोकोपकार है। नाट्य-कला के बाहरी विषय अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व नहीं रखते और काल के साथ परिवर्तित होते जाते हैं। यही कारण है कि साहित्यालोचन में नियमों की अपेक्षा सिद्धान्तों का अधिक मान रहता है। अतएव भारतीय शैली के नियमों के पालन की आशा करना तथा नाट्य-कला की भारतीय विशेषताओं का अन्वेषण नाट्य-कला के ज्ञानोपार्जन में ही लाभदायक होगा, नाटककार को समझने में, उसकी वैयक्तिक और साहित्यिक विशिष्टता, उसके जीवन-मूल्यों तथा सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों के अन्वेषण में उससे अधिक लाभ न होगा। 'प्रसाद' जी ने नाट्य-शैली के समन्वय में पाश्चात्य आदर्शों को अधिकता से अपनाया है यह एक बड़ी मनोरञ्जक और महत्त्वपूर्ण बात है। उनके नाटकों में पश्चिमीय नाटकों जैसा ही है। उसकी अतिरञ्जना न कर उन्होंने

अपनी समन्वय भावना का परिचय दिया है। अतः उनके नाटकों में भारतीय—वस्तु-विकास के सिद्धान्तों को घटाने से अथवा उनका आरोप करने से अधिक लाभ नहीं और न इससे शैली सम्बन्धी किसी नवीनता का ही उद्घाटन सम्भव है। हम किसी भी अँगरेजी नाटक में भारतीय नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट सन्धियों और कार्य-अवस्थाओं की खोज कर सकते हैं। यदि ऐसा पूर्ण रूप से सम्भव न हो तो जिस प्रकार कविता का अर्थ खींच-तान कर अपने अनुकूल कर लिया जाता है अथवा जिस प्रकार दार्शनिक अपने विचार या तर्क को उपस्थित करने के लिए सिद्धान्त विशेष से अपने मतलब का अर्थ निकाला करते हैं उसी प्रकार हम भी नाटक की कथा-वस्तु में तथा उसकी शरीर-रचना में इन विशेषताओं का आरोप कर सकते हैं। मेरे मन में 'प्रसाद' की भारतीयता उनके मूल और प्रधान आदर्श उनके समन्वयवाद में ही व्यक्त हैं। अन्य प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने की क्षमता भारतीयता की एक मौलिक विशेषता है। भारतीय धर्म में दर्शन, कवित्व, नीति आदि का समन्वय है; 'प्रसाद' के समन्वय में भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण है, भारतीय आदर्श वर्तमान हैं, भारतीय दृष्टि सुरक्षित है, भारतीय जीवन-मूल्य स्थिर हैं; कला में परिवर्तन हो गया है, पाश्चात्य सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन कर समयानुकूल शैली में परिवर्तन कर दिया गया है और सभ्यता और संस्कृति पर आधारित भारतीय-रुचि का ध्यान रख नाट्य-शैली में परिवर्तन कर दोनों शैलियों का समन्वय किया गया है; किन्तु जैसा मैंने निवेदन किया समन्वय से पूर्वात्य (Oriental) तथा आँग्ल (Anglican) साहित्यिक आदर्शों के सन्तुलन (Equilibrium) का अर्थ अभीष्ट नहीं। अतएव समन्वय का कथन एक व्यापक कथन है जिसका विस्तार नाट्य-कला के समस्त आदर्शों तथा नाट्य-कला के समस्त नियमों तक है। यद्यपि वह एक साधारण कथन (General-isation) नहीं जो नाट्य-कला के सम्बन्ध में दोनों शैलियों के सन्तुलन के अर्थ का द्योतक हो। अतः समन्वय से सन्तुलन का अर्थ

न समझा जाय क्योंकि न तो वह लक्ष्य है और न उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही किया गया है।

अस्तु, प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य का समुन्नत भांडा सुरक्षित रहने पर भी देशगत प्रेरक शक्ति के कार्य करने पर भी, रङ्गमञ्च के अभाव के कारण हिन्दी नाट्य-साहित्य की उन्नति अवरुद्ध रही है। पारसी रङ्गमञ्च के द्वारा उर्दू के कुरुचिपूर्ण नाटक अपनाये जाते थे। हिन्दी-प्रेमियों द्वारा स्थापित नाटक-मण्डलियों को स्थायी प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। पं० राधेश्याम 'कविरत्न' नारायणप्रसाद 'बेताब' और बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाटकों द्वारा पारसी रङ्गमञ्च पर हिन्दी नाटकों को स्थान मिला। 'कविरत्न' तथा 'बेताब' के नाटक पारसी रङ्गमञ्च के उपयुक्त ही पौराणिक नाटक थे। जौहर ने सामाजिक नाटकों की रचना की। रङ्गमञ्च तथा नाटक दोनों ही एक दूसरे के विकास के लिए बाधक सिद्ध हुए हैं। अच्छे नाटकों की परिमित संख्या के कारण हिन्दी-नाटकों का अभिनय असम्भव था और रङ्गमञ्च की अविकसित अवस्था नाट्य-साहित्य के निर्माण में बाधक सिद्ध हुई है।

पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन तीन सरणियों में किया जा सकता है—शेक्सपियर का नाट्य-साहित्य, मौलियर का साहित्य तथा शॉ और इब्सन के नाटक। अँगरेजी के नाट्य-साहित्य विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव एक तो बङ्ग साहित्य के माध्यम से तथा द्विजेन्द्रलालराय के नाटकों के अनुवाद से आया, दूसरे अगरेजी नाटकों के अनुवाद से तथा तीसरे प्रत्यक्ष रूप से शेक्सपियर के अध्ययन से। यह प्रभाव प्रथम नाटकों के बाहरी ढाँचे में हुआ तथा अनन्तर क्रमशः आदर्शों में। प्रस्तावना का लोप, अँगरेजी नाटकों के अनुकरण पर अङ्क-विभाजन और दृश्य-विधान अर्थोपक्षेपकों और भरत-वाक्य इत्यादि का लोप तथा नियत-श्राव्य वस्तु का लोप (अथवा अपेक्षाकृत कम प्रयोग) आदि लक्षण पाश्चात्य प्रभाव के परिचायक हैं। वस्तु-तत्त्व अथवा अर्थ-प्रकृतियाँ तो वर्तमान हैं किन्तु कार्य-व्यापार की अवस्थाओं

इनकी समन्वय भावना का परिचय दिया है। अतः उनके नाटकों में भारतीय—वस्तु-विकास के सिद्धान्तों को घटाने से अथवा उनका आरोप करने से अधिक लाभ नहीं और न इससे शैली सम्बन्धी किसी नवीनता का ही उद्‌घाटन सम्भव है। हम किसी भी अँगरेजी नाटक में भारतीय नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट सन्धियों और कार्य-अवस्थाओं की खोज कर सकते हैं। यदि ऐसा पूर्ण रूप से सम्भव न हो तो जिस प्रकार कविता का अर्थ खींच-तान कर अपने अनुकूल कर लिया जाता है अथवा जिस प्रकार दार्शनिक अपने विचार या तर्क को उपस्थित करने के लिए सिद्धान्त विशेष से अपने मतलब का अर्थ निकाला करते हैं उसी प्रकार हम भी नाटक की कथा-वस्तु में तथा उसकी शरीर-रचना में इन विशेषताओं का आरोप कर सकते हैं। मेरे मन में 'प्रसाद' की भारतीयता उनके मूल और प्रधान आदर्श उनके समन्वयवाद में ही व्यक्त है। अन्य प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने की क्षमता भारतीयता की एक मौलिक विशेषता है। भारतीय धर्म में दर्शन, कवित्व, नीति आदि का समन्वय है; 'प्रसाद' के समन्वय में भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण है, भारतीय आदर्श वर्तमान है, भारतीय दृष्टि सुरक्षित है, भारतीय जीवन-मूल्य स्थिर हैं; कला में परिवर्तन हो गया है, पाश्चात्य सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन कर समयानुकूल शैली में परिवर्तन कर दिया गया है और सभ्यता और संस्कृति पर आधारित भारतीय-रुचि का ध्यान रख नाट्य-शैली में परिवर्तन कर दोनों शैलियों का समन्वय किया गया है; किन्तु जैसा मैंने निवेदन किया समन्वय से पूर्वात्य (Oriental) तथा आँग्ल (Anglican) साहित्यिक आदर्शों के सन्तुलन (Equilibrium) का अर्थ अभीष्ट नहीं। अतएव समन्वय का कथन एक व्यापक कथन है जिसका विस्तार नाट्य-कला के समस्त आदर्शों तथा नाट्य-कला के समस्त नियमों तक है। यद्यपि वह एक साधारण कथन (Generalisation) नहीं जो नाट्य-कला के सम्बन्ध में दोनों शैलियों के सन्तुलन के अर्थ का द्योतक हो। अतः समन्वय से सन्तुलन का अर्थ

न समझा जाय क्योंकि न तो वह लक्ष्य है और न उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही किया गया है।

अस्तु, प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य का समुन्नत भांडा सुरक्षित रहने पर भी देशगत प्रेरक शक्ति के कार्य करने पर भी, रङ्गमञ्च के अभाव के कारण हिन्दी नाट्य-साहित्य की उन्नति अवरुद्ध रही है। पारसी रङ्गमञ्च के द्वारा उर्दू के कुरुचिपूर्ण नाटक अपनाये जाते थे। हिन्दी-प्रेमियों द्वारा स्थापित नाटक-मण्डलियों को स्थायी प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। पं० राधेश्याम 'कविरत्न' नारायणप्रसाद 'बेताब' और बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाटकों द्वारा पारसी रङ्गमञ्च पर हिन्दी नाटकों को स्थान मिला। 'कविरत्न' तथा 'बेताब' के नाटक पारसी रङ्गमञ्च के उपयुक्त ही पौराणिक नाटक थे। जौहर ने सामाजिक नाटकों की रचना की। रङ्गमञ्च तथा नाटक दोनों ही एक दूसरे के विकास के लिए बाधक सिद्ध हुए हैं। अच्छे नाटकों की परिमित संख्या के कारण हिन्दी-नाटकों का अभिनय असम्भव था और रङ्गमञ्च की अविकसित अवस्था नाट्य-साहित्य के निर्माण में बाधक सिद्ध हुई है।

पाश्चात्य प्रभाव का अध्ययन तीन सरणियों में किया जा सकता है—शेक्सपियर का नाट्य-साहित्य, मौलियर का साहित्य तथा शॉ और इब्सन के नाटक। अँगरेजी के नाट्य-साहित्य विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव एक तो बङ्ग साहित्य के माध्यम से तथा द्विजेन्द्रलालराय के नाटकों के अनुवाद से आया, दूसरे अगरेजी नाटकों के अनुवाद से तथा तीसरे प्रत्यक्ष रूप से शेक्सपियर के अध्ययन से। यह प्रभाव प्रथम नाटकों के बाहरी ढाँचे में हुआ तथा अनन्तर क्रमशः आदर्शों में। प्रस्तावना का लोप, अँगरेजी नाटकों के अनुकरण पर अङ्क-विभाजन और दृश्य-विधान अर्थोपक्षेपकों और भरत-वाक्य इत्यादि का लोप तथा नियत-श्राव्य वस्तु का लोप (अथवा अपेक्षाकृत कम प्रयोग) आदि लक्षण पाश्चात्य प्रभाव के परिचायक हैं। वस्तु-तत्त्व अथवा अर्थ-प्रकृतियाँ तो वर्तमान हैं किन्तु कार्य-व्यापार की अवस्थाओं

का तथा सन्धियों का आदर्श अवश्य परिवर्तित हुआ। यद्यपि इनका अन्वेषण हम वर्तमान पाश्चात्य ढंग के नाटकों में कर सकते हैं, 'प्रसाद' के नाटकों में इनकी खोज और इनका दिग्दर्शन किया गया है, तथापि इनमें इस प्रकार के अन्वेषण की आवश्यकता ही नहीं। कारण स्पष्ट है और इसका विवेचन हम कर भी चुके हैं—आधुनिक नाटक, पश्चिमीय नाटकों में विरोध को अपना कर चलते हैं। नाटक के ढाँचे में विरोध को प्रधानता मिलने से कार्य व्यवस्थाएँ अँग्रेजी नाटकों के सदृश विभक्त होती हैं—आरम्भ, विकास, चरम-सीमा, विगति और समाप्ति। नाटक-रचना के सिद्धान्तों में वस्तु-विकास तथा विरोध-विकास का जो प्रधान भेद है वह केवल दृष्टिकोण का है। एक में विरोध को प्रधानता दी जाती है दूसरे में लक्ष्य-प्राप्ति की। अतः एक का क्षेत्र सीमित हो जाता है, दूसरे का अत्यन्त विस्तृत। भारतीयों ने जहाँ आदर्शों की प्रतिष्ठा को महत्त्व देकर नाटकों को अर्थ, धर्म और काम की वृद्धि अथवा लोकोपकार की वृद्धि के लिए माना है वहाँ पाश्चात्य लक्ष्य यथार्थ-प्रदर्शन का रहा है। पश्चिम के लोग यह देखना चाहते हैं कि वास्तव में समाज का जीवन कैसा है। इसी से सम्बद्ध प्रश्न नाटकों के पर्यवसान का है। भारतीय नाटकों का लक्ष्य जहाँ आनन्द में समाप्ति का है वहाँ पाश्चात्य आदर्श सुखान्त और दुःखान्त का है। प्राचीन भारतीय नाटकों में आनन्दवाद के लक्ष्य ने दुःखान्त नाटकों की रचना न होने दी। आदर्शों में भेद है पर समन्वय संभव है और किया भी गया है। साहित्यालोचन के अनुसार वस्तु, चरित्र, कथोपकथन, देश, काल, शैली और उद्देश्य—ये छः नाटकीय तत्त्व बतलाये गये हैं जो भारतीय आलोचना में निर्दिष्ट तीन तत्त्वों—वस्तु, नायक और रस के विकसित रूप हैं। पाश्चात्य शील-वैचित्र्य के आदर्श तथा भारतीय रस—सृष्टि के आदर्श में भी समन्वय संभव है। अँगरेजी तथा भारतीय साहित्यालोचन में सङ्कलन-त्रय (three unities) में से वस्तु-सङ्कलन को ही महत्त्व दिया गया है, शेष दो अन्वितियों का मनमाना उल्लङ्घन किया गया है

क्योंकि उनके पालन में नाटकीयता नहीं। भारतीय नाट्य-शास्त्र में 'नायक' और 'नायिका' शब्द सोद्देश्य और व्यञ्जक (Significant) हैं। जो कार्य-शृङ्खला को आगे बढ़ाकर अन्त तक ले जावे वह नायक है, यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। नायक के जो भेद भारतीय नाट्य-शास्त्र में बताये गये हैं और जो विशेषताएँ आवश्यक बताई गई हैं आज उनका मूल्य नहीं। नायिका नायक की प्रिया हो यह भी आवश्यक नहीं। प्रधान भाग से ही नायक और नायिका का निश्चय होता है। नायिका-भेद को आज नाटकों में महत्व नहीं दिया जाता और न उसकी विवेचना की ही आवश्यकता समझी जाती है। नाटकीय वृत्तियों का आज भी मान होना चाहिये। ये वृत्तियाँ नायक, नायिका आदि के विशेष ढङ्ग अथवा व्यवहार पर आधारित होती हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार वृत्तियाँ नाटकीय रस की अनुभूति में सहायक होती हैं। नाटकों का अनिवार्य गुण अभिनय ही है और अभिनय तथा दृश्यों के प्रदर्शन से सम्बद्ध वृत्तियों का मूल्य सहज समझा जा सकता है। ये वृत्तियाँ आज भी पूर्ववत् आवश्यक हैं। इनके प्रयोग से प्राचीन नाट्य-साहित्य से हमारा सम्बन्ध स्थिर होता है। अतएव आधुनिक काल में नाटकों को पश्चिम से उत्तेजना (impetus) मिली हो पर इसीलिए वे न तो नवीन वस्तु हैं न पाश्चात्य देन। कैशिकी वृत्ति में गीत, नृत्य, विलास और रति आते हैं। यह मधुर वृत्ति है। अन्य वृत्तियाँ भारती, सात्वकी और आरभटी हैं जो भारतीयता की परिचायक हैं।

अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार आदि नामों का प्रयोग न किया जाय। साधारण दृश्यों के प्रयोग से अभीप्सित कार्य निकाल लिया जाता है। इनके द्वारा ऐसी बातों की सूचना दी जाती है जिनके रंगमंच पर प्रदर्शित करने में बखेड़े हों। उदाहरणार्थ रथ या रेलगाड़ी दौड़ाना, जिनका प्रदर्शन शिष्टाचार के विरुद्ध हो जैसे सन्तानोत्पत्ति, स्नान आदि का प्रदर्शन अथवा जो इतनी महत्व-

पूर्ण या रस-पूर्ण न हों कि प्रदर्शित की जायँ। संक्षेप में सूच्य वस्तुएँ छोटे दृश्यों के अन्तर्गत बताई जाती हैं। प्रासङ्गिक कथा-वस्तु का प्रयोग होता है। 'पताकास्थानक' का चमत्कार बहुत ही नाटकीय है किन्तु अब इसका प्रयोग बहुत ही कम दिखाई पड़ता है।

अस्तु, पश्चिमीय प्रभाव से नाट्य-कला के आदर्शों में कई परिवर्तन उपस्थित हुए। शेक्सपियर के नाटकों के प्रभाव से हिन्दी नाटकों में भावुकता का विकास हुआ, अन्तर्विरोध को प्राधान्य मिला और करुणा-पूर्ण नाटकों की सृष्टि हुई। जिस प्रकार साहित्य की अन्य श्रेणियों में उसी प्रकार नाट्य-साहित्य में बँगला व अँगरेजी की शैली तथा कला के आदर्शों का अनुकरण हुआ। शेक्सपियर के नाटकों के सम्पूर्ण आदर्शों को अपनाकर नाट्य-साहित्य का प्रणयन करने वालों में श्रेष्ठ कलाकार द्विजेन्द्रलाल राय हुए जिनके नाटकों का अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया गया। ऊपर उल्लिखित विशेषताएँ सर्वांश में इनके नाटकों में उपलब्ध होती हैं, हाँ, शेक्सपियर की सी कविता-शक्ति यहाँ अवश्य दुर्लभ है। सबसे अधिक प्राधान्य अन्तर्विरोध, भावोन्माद तथा कारुण्य को दिया गया है। 'सीता' नाट्य-काव्य है। 'ताराबाई' नाट्य-काव्य के शेक्सपियर के ही अनुकरण पर अतुकान्त पद्य में है। चारित्रिक दुर्बोधता के साथ करुणा का सम्मिश्रण भी शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों की विशेषता है। नूरजहाँ और हैमलेट के चरित्रों के अनुशीलन से द्विजेन्द्रलाल राय के आदर्श के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। मोलियर के साहित्य का प्रभाव विशेषकर जी० पी० श्रीवास्तव के अनुवादों में है। इस प्रकार की उच्चकोटि की स्वतन्त्र रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

ऊपर पूर्वात्य और आँग्ल प्रेरक शक्तियों का विवेचन कर मैंने इस बात का निर्देश किया है कि युग-प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्राचीनता के प्रतीक थे। इनकी नाट्य-कृतियों ने नाट्य-साहित्य में प्राणों का संचार किया। 'प्रसाद' ने समन्वय मार्ग का अवलंबन कर नाट्य-साहित्य

में एक नवीन युग की सूचना दी । ये नाटककार-द्वय हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कवि और नाटककार हुए । हिन्दी साहित्य पर इनके उपकार का विवेचन आगे किया जायगा । भारतीय तथा पाश्चात्य शैली के समन्वय को अपनाकर तथा भावुकता का आश्रय लेकर जो नाट्य-कला विकसित हुई उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप यथातथ्यवाद को लेकर तथा विषयगत नवीनता को अपनाकर शॉ और इब्सन के अनुकरण पर सामाजिक और राजनीतिक नाटकों की रचना हुई । समस्या-नाटक, लिखनेवालों में सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, पृथ्वीनाथ शर्मा, उदयशङ्कर भट्ट तथा गोविन्दवल्लभ पन्त हैं । मिश्रजी ने यौन-समस्या को प्रधानता दी है और सेठजी ने सामाजिक और राजनीतिक समस्या को । समस्या-नाटकों में विचार को प्रधानता दी जाती है, भावोन्माद का स्थान गौण रहता है पर ये सब नाटक भावुकता को साथ लेकर चले हैं । समस्याओं के बौद्धिक समाधान सभी नाटकों में प्राप्त होते हैं । मिश्रजी और सेठजी दोनों के नाटकों में विचारात्मकता का प्राधान्य है और कवित्व का नितान्त अभाव है । सेठ गोविन्ददास के नाटकों में स्थान-स्थान पर शुष्कता अनिवार्यतः आ जाती है । लम्बे रङ्गसंकेत (Stage directions) जहाँ वस्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा नृत्य सम्बन्धी सूक्ष्म बातें व्यंजित करते हैं वहाँ बहुत से स्थलों पर अनावश्यक ही प्रतीत होते हैं । 'हर्ष' में तो राजनीतिक विषयों का वार्तालाप नीरस वाग्जाल ही है । इस नाटक में कार्य (Action) की कमी भयङ्कर दोष की सीमा को पहुँच गई हैं । नाटक यथार्थ में एक विस्तृत कथोप-कथन ही है अभिनायात्मक तत्व जिसमें अल्प ही है । नाटकीय सरस स्थलों की अपेक्षा राजतैनिक चर्चा को प्राधान्य दिया गया है । नाटक की सफलता या असफलता बहुत कुछ पात्रों के चरित्र-चित्रण पर निर्भर रहती है । हमें विदित ही है कि चरित्र-चित्रण का प्रधान साधन कथपोकथन ही है । यह कथोपकथन जितना ही स्वाभाविक, उपयुक्त और अभिनयात्मक होगा नाटक उतना ही उत्तम कोटि का होगा ।

यद्यपि इस नाटक में शुष्क राजनीतिक वार्तालाप की कमी नहीं तथापि हम यह नहीं कह सकते कि सर्वत्र ऐसी ही बात है। उदाहरणार्थ दूसरे अङ्क के दूसरे दृश्य में राज्यश्री और अलका तथा विशेषकर हर्ष (शिलादित्य) और उनकी कनिष्ठा भगिनी राज्यश्री का वार्तालाप बहुत ही रोचक है। इसी प्रकार तीसरे अङ्क के दूसरे दृश्य की (आदित्य-सेन, माधवगुप्त तथा शैलबाला) की बातचीत भी उपयुक्त और सुन्दर हैं। आदित्यसेन का हर्ष के प्रति स्वाभाविक क्रोध है। शैलबाला का पुत्र-प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक है। नाटक का अन्त भी अभिनयात्मक है। माधवगुप्त का अपने पुत्र को पकड़ कर प्राणदण्ड के लिए देना बहुत ही कारुणिक प्रसङ्ग है। पुत्र तथा माता (शैलबाला) का वार्तालाप आकर्षक है। करुणामय प्रसङ्ग को लेकर विद्रोहियों की अग्नि के साथ नाटक का अन्त होता है। माधवगुप्त के इन बचनों से—'इस अग्नि के साथ ही आर्यावर्त के साम्राज्य के प्रति विद्रोहियों की अग्नि भी सदा के लिए शान्त हो जायगी'—नाटक की करुणा शान्ति में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार 'प्रसाद' के प्रयोग का व्यापक प्रभाव प्रतिक्रिया-जन्य इन नाटकों में भी परिलक्षित होता है, न केवल भावुकता के क्षेत्र में पर नाटकीय अन्त के सम्बन्ध में भी।

हिन्दी-नाट्य-क्षेत्र में युगप्रवर्तक नाटककार-द्वय 'भारतेन्दु' और 'प्रसाद' का विवेचन प्रसङ्गवश हो चुका है। अब हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर इनके उपकार का अवलोकन करें। भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य में मौलिक नाटक रचना कर हिन्दी में नाटकों का सूत्रपात किया तथा साथ ही संस्कृत, बंगला तथा अँगरेजी के नाटकों के अनुवाद से युग को प्रेरित किया। उन्होंने परिमार्जित और व्यवस्थित गद्य का प्रयोग कर न केवल गद्य-भाषा के भावी रूप और विकास की सूचना दी, पर साहित्य को नवीन विषय भी दिये। उनके प्रयत्न के फल-स्वरूप उनके जीवन-काल में उनके अन्य समसामयिकों ने उनसे प्रेरणा ग्रहण कर अनेक नाटकों का निर्माण किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित

बदरीनारायण चौधरी, लाला श्रीनिवासदास, बाबू तोताराम, पं० अम्बिकादत्त व्यास और बाबू राधाकृष्णदास आदि सब नाटककार हरिश्चन्द्र स्कूल के ही नाटककार हैं। रामकृष्ण वर्मा ने बंगला के नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये। हरिश्चन्द्रकाल में उन्हीं की प्रेरणा-स्वरूप नाट्य-कला का अपूर्व विकास हुआ। भारतेन्दु ने नाट्य-साहित्य में प्राचीन भारतीय नाट्य-कला का पूर्ण प्रभाव, कविता का चमत्कार, अलङ्कार-मय भाषा का प्रसार, अभिनय-कला तथा नाटकीय-वृत्तियों (उदाहरणार्थ 'चन्द्रावली' नाटिका में कैशिकी वृत्ति) का विकास दृष्टिगोचर होता है।

भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य में हमें मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, आंतरिक संघर्ष, भावोन्माद, कथोपकथनों की उपयुक्तता तथा नाटकीयता और चरित्रों की दुर्बोधता आदि सब गुण यथार्थ मात्रा में चाहे न प्राप्त हों, पर इससे नाट्य-साहित्य पर उनके उपकार में किसी प्रकार की कमी नहीं पड़ती। नाटक-रचना के उद्भव-काल में हम विकास की महान् विशेषताओं के पाने की आशा नहीं करते। अङ्गरेजी के रोमेन्टिक ड्रामा तथा राय के नाटकों के प्रभाव-स्वरूप जो भावोन्माद हिन्दी नाट्य-साहित्य में आया और जिसका पूर्ण प्रभाव 'प्रसाद' के कथोपकथनों और गीतों में दिखाई पड़ता है वह इस काल में स्वाभाविकतया दुर्लभ ही है। तथापि भारतेन्दु के नाटक अभिनेय हैं और नाटकों के सूत्रपात और विकास की दृष्टि से, विषयों की नवीनता और अनेक रूपता की दृष्टि से, गद्य के प्रवर्तन और परिमार्जन की दृष्टि से, नाटक क्षेत्र में उनकी प्रतिभा और प्रेरणा की दृष्टि से, अनूदित तथा मौलिक नाटकों की महत्त्वपूर्ण देन की दृष्टि से, हिन्दी-साहित्य पर भारतेन्दु का उपकार सदैव स्मरणीय रहेगा।

भारतेन्दु के पश्चात् नाटकों का धारा-प्रवाह अवरुद्ध हो गया। कारण स्पष्ट है—एक तो हरिश्चन्द्र जैसे युग-प्रवर्तक कवि और नाटककार का लोकान्तरगमन, दूसरे नवीन मार्ग-प्रदर्शक किसी दूसरे अत्यन्त प्रतिभाशाली नाटककार का अभाव तथा साथ ही एक और शक्तिशाली

कारण, रंगमञ्च का अभाव। इन कारणों से भारतेन्दु-काल में प्रवाहित धारा लुप्त हो चली! द्वितीय उत्थान अनुवादों का युग था जिसमें संस्कृत, अँगरेज़ी और बंगला के नाटकों के अनुवाद हुए। तृतीय उत्थान में जयशङ्कर 'प्रसाद' की सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा विशेषकर कवित्व और नाटकीय पर्य्यवेक्षण के सम्मुख उल्लिखित बाधाएँ न ठहर सकीं और लुप्त-प्राय धारा का प्रवाह समस्त वेग के साथ वह पड़ा। भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य का बहुत ही विकसित और समृद्धि-शाली रूप 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु-काल के विवेचन में परिगणित अभावों का पूर्ण निराकरण 'प्रसाद' के नाटकों में हुआ। उनके नाटकों में भारतीय-इतिहास का जो पुनुरुत्थान हुआ है, प्राचीन संस्कृति के जिन उज्जवल चित्रों की अवतारणा हुई है, इतिहास के साथ जिस कवित्व और दार्शनिकता का योग हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके नाटकों में अन्तर्विरोध को प्रधानता अवश्य है, चरित्रांकन को प्रथम स्थान दिया गया है। शील-वैचित्र्य दर्शाया गया है। कुछ चरित्रों (उदाहरणार्थ मागधी, सुरमा, विजया) की सृष्टि तो कौतुक-प्रदर्शन के लिए ही की गई है परन्तु रस-विधान का लक्ष्य विस्मृत नहीं हुआ। इस दृष्टि से 'प्रसाद' के नाटक साहित्य की चिरंतन सामग्री हैं। आधुनिक नाट्य-साहित्य उनकी प्रतिभा तथा व्यक्तित्व से प्राणान्वित है। समस्या-नाटकों में जो भावुकता पाई जाती है वह 'प्रसाद' का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। ऐतिहासिक नाटकों में तो उनका प्रवाह निर्विवाद है। उनके पश्चात् आज भी हिन्दी-नाट्य-क्षेत्र में वैसे प्रतिभाशाली नाटककार का स्थान रिक्त ही है।

प्रसादजी के नाटक और पात्र-कल्पना

प्रसादजी ने द्विवेदी युग के पूर्व आरम्भ काल में अपनी रचनाओं से हिन्दी का भंडार भरना आरम्भ किया। बेताब और राधेश्याम कथा-वाचक के नाटकों की व्यवसायी रंगमंच पर धूम थी; द्विजेन्द्र के बंगाली नाटकों के हिन्दी अनुवादों की ओर पढ़ी-लिखी जनता आकृष्ट थी। रङ्गमञ्च के लिए लिखी गई रचनाएँ साहित्य की उन्नत मनीषिता से रहित थी, बंगाली नाटक हिन्दी की मौलिक मेधा से। भारतेन्दु के उदय, कांग्रेस की स्थापना, आर्यसमाज के उत्थान से जो भारतीय पुन-र्जागरण आरम्भ हुआ था, प्रसादजी के समय में उसका द्वितीय उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। भारत के इतिहास का तब केवल भावनोत्तेजक अध्ययन ही नहीं वैज्ञानिक परिशीलन भी हो उठा था, और इसकी यथार्थ समीक्षा भी। प्रसादजी में यह प्रवृत्ति पूरी जाग्रत है। उनके नाटक अधिकांश ऐतिहासिक हैं, पुराणों से ग्रहण किए हुए कथानक भी ऐतिहासिक धरातल पर हैं; इन नाटकों की भूमिकायें इतिहास की वैज्ञानिक शोध के सुन्दर उदाहरण हैं।

बीस वर्ष से पूर्व की अवस्था में—सन् १६०६ से पहले के प्रसादजी के दो छोटे नाटक 'प्रायश्चित' और 'सजन' हैं। 'प्रायश्चित' में जयचन्द द्वारा पृथ्वीराज-विरोध के लिए प्रायश्चित की कल्पना है। जयचन्द सैनप से कह रहा है, "कन्नौज निवासियों से कह देना कि तुम्हारे पापी राजा ने, जिसकी तुम लोगों ने बहुत सी आज्ञाएँ मानी हैं एक अन्तिम प्रार्थना यह की है कि यदि हो सके तो शहाबुद्दीन का बध करके उसकी रक्तधारा से दो एक अंजुली, जयचन्द के नाम पर देना, क्योंकि पापियों को नरक में यही तो मिलता है!" जयचन्द गंगा में प्रवेश कर ये शब्द कहता है।

"देवि ! एक* तो मैं नहीं कर सका पर दूसरा तो मेरे वश में है, वह प्रायश्चित करता हूँ। देशद्रोह के लिए आत्मवध।"

इस नाटक में अलौकिक तत्वों का सहारा लिया गया है। जयचन्द को प्रायश्चित के लिए सन्नद्ध कराने वाली दो विद्याधरियाँ हैं।

'सज्जन' में महाभारत का एक प्रसंग है, दुर्योधन और उसके साथियों को गन्धर्वों ने पकड़ लिया था और उसे उन्हीं पाण्डवों ने उनसे मुक्त कराया, जिन्हें सताने वह गया था। युधिष्ठिर की सज्जनता को प्रकाशित किया गया है।

उसके बाद प्रसादजी के नाटकों में उत्तरोत्तर श्री बढ़ती गई। विशाख, राज्यश्री, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त—ये ऐतिहासिक नाटक हैं और 'एक घूँट' तथा 'कामना' का कथानक लेखक का स्वकल्पित है। उपरोक्त ऐतिहासिक नाटकों में 'विशाख' का काश्मीर के इतिहास से सम्बन्ध है। 'राज्यश्री' का सम्राट हर्षवर्द्धन से। 'नागयज्ञ' का कथानक महाभारत में से है। 'अजातशत्रु' महात्मा बुद्ध का समकालीन है। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'स्कन्दगुप्त' गुप्त कालीन तथा 'चन्द्रगुप्त' मौर्यकालीन।

सभी नाटक सीधे राजतन्त्र से सम्बन्धित हैं और किसी न किसी राजकीय उथल-पुथल और अशान्ति की कहानी कहते हैं। द्विजेन्द्र ने अधिकांश मुगलकालीन कथाओं पर अपने नाटक खड़े किए, प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना, जो मुसलमान काल से ऊपर था। जिसमें अविकृत भारतीय संस्कृति का चित्र है। सभी में किसी न किसी उथल-पुथल का उद्घाटन किया गया है, फलतः षडयन्त्र, विद्रोह रक्त और अनेकों संघर्ष इन नाटकों में मिलते हैं। नाटककार ने ऐसे ही घोर विगर्हणा और राजनैतिक पतन के ऐतिहासिक सन्धिकाल के दृश्यों में से भारतीय चरित्र की महानता और राष्ट्रीय सन्देश का आविर्भाव

* यह एक प्रायश्चित था "जामातृवध के लिए शत्रुवध"।

किया है। प्रसादजी के इन नाटकों में भारतीय इतिहास के विविध निर्मायक तत्व सजीव हो उठे हैं।

राजतन्त्र से धर्म की समस्यायें गुथी हुई हैं। जिस धर्म को नाटकों में अपने विविध रूपों में स्थान मिला है, वह मुख्यतः बौद्धधर्म है। 'विशाख' में हमें उसके ह्रास का चित्र मिलता है। कबीर मठ का महन्त सत्यशील, लालची, रूपलिप्स सब कुछ है। एक दूसरा भिक्षु महापिङ्गल के कहने पर चैत्य का देवता बनकर चन्द्रलेखा को नरदेव की रानी बनने की प्रेरणा देने को तत्पर हो जाता है, फिर तान्त्रिक बनकर तरला का शेष धन लेकर चम्पत हो जाता है। 'राज्यश्री' में शान्तिभिक्षु को इसी प्रकार स्खलित होकर दस्यु तक बनते देखते हैं। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में प्रपंचबुद्धि कापालिक प्रपंच में फँसा हुआ मिलता है। इसके साथ ही 'अजातशत्रु' में बुद्ध की महान महिमा परिव्यास है, 'स्कन्दगुप्त' में भी प्रपंचबुद्धि के विपरीत धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति हैं, 'राज्यश्री' में सुमनध्वज और स्वयं हर्ष बौद्ध धर्म की उज्ज्वल दिशा प्रगट करते हैं। बौद्धों के यथार्थ रूप के प्रति लेखक की सम्यक् सहानुभूति है।

एक अन्य तत्व है जातीय संघर्ष। नागयज्ञ में यह बहुत ही प्रबल हो गया है। आर्य जाति और नागजाति के पारस्परिक वैमनस्य और दम्भ का रूप इसमें उपस्थित किया गया है। 'विशाख' में भी यह संघर्ष विद्यमान है पर वह केवल संकेत बनकर ही रह गया है, कथा ने 'नागयज्ञ' की भाँति उसे अपना भोज्य नहीं बनाया। 'स्कन्दगुप्त' में हूणों के आक्रमण का प्रासंगिक वर्णन है।

नाटककार ने इतनी प्रपंचपूर्ण भूमिका में से मानवता का उदय कराया है।

आरम्भिक नाटकों के कथासूत्र सरल हैं; फिर वे जटिल होते जाते हैं और यह जटिलता 'चन्द्रगुप्त' में पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। 'विशाख' में 'चन्द्रलेखा' को लेकर संघर्ष उपस्थित हुआ है। पहले तो

बौद्ध महन्त उस पर प्रलुब्ध हो जाता है, फिर राजा नरदेव। राजा तो उसे उसके पति विशाख से छीन लेता है और उसके लिए किसी भी सीमा तक भयानक काण्ड करने के लिए तत्पर दीखता है। प्रेमानन्द की उदारता और सेवा का भाव और जनता का विद्रोह चन्द्रलेखा की रक्षा करता है और वस्तुस्थिति सम बनती है। 'राज्यश्री' में एक सूत्र तो राज्यश्री का है। उसका पति मारा जाता है। पहले उसे मालवराज देवगुप्त अपने अधिकार में करना चाहता है। फिर दस्यु उसे छुड़ाते हैं, दिवाकर मित्र दस्युओं से उसकी रक्षा करता है, निराश होकर वह चितापर जल मरना चाहती है। तभी हर्ष आता है। वह हर्ष के साथ राज्य करती है और प्रयाग में वे सर्वस्वदान करते हैं। दूसरा सूत्र 'शांतिदेव' और सुरमा का है। शांति रूप और धन के उच्चाटन से सुरमा को छोड़ राज्यश्री के लिए लपकता है, दस्यु बनता है, सुरमा भी च्युत होकर महत्वाकांक्षा में देवगुप्त के साथ रानी बनती है। शान्ति सुरमा को भगा लाता है। वे दोनों गायक बनते हैं। नरेन्द्रगुप्त के षड़यन्त्र के साधन बन राज्यवर्धन की हत्या करके भागते हैं। सुएनच्यांग को पकड़कर उससे धन चाहते हैं या रक्त। दैवी शक्ति से बाध्य हो वे उसे छोड़ देते हैं। वे जब प्रयाग लूट करने जाते हैं, पकड़ लिए जाते हैं और हर्ष तथा राज्यश्री से क्षमा पाते हैं। ये दोनों कथाएँ एक दूसरे से उलझती चलती हैं।

'अजातशत्रु' में जटिलता और भी बढ़ती है। एक तो अजातशत्रु सम्बन्धी सूत्र है। छलना अजातशत्रु को राजा बना देती है और बिम्बसार तथा बासवी को बन्दी बना लेती है। इस पर बासवी का भाई प्रसेनजित मुद्रा दान देता है। अजात हार जाता है और बन्दी होता है। बासवी उसे छुड़ा लाती है। दूसरा सूत्र विरुद्धक का है। उसकी उद्दंडता से रुष्ट हो उसका पिता कोशल नरेश प्रसेनजित उसे दासी पुत्र बता, उसे राज्याधिकार से बंचित घोषित कर देता है; प्रतिशोध के लिए शैलेन्द्र साहसिक बन जाता है। मल्लिका पर वह मोहित है,

उसके प्रलोभन से उसके पति बंधुल को मार डालता है, महत्वाकांक्षी श्यामा को अपनाता है, जो उसे कैद से छुड़ाती है, पर शैलेन्द्र अवसर पाकर उससे भी पिंड छुड़ाता है, पर अजातशत्रु का पक्ष लेकर कोशल से युद्ध करता है, घायल होने पर मल्लिका की सुश्रूषा से अच्छा होता है और मल्लिका के ही प्रयत्न से वह पुनः अपना अधिकार प्राप्त करता है।

तीसरी कहानी मागंधी की है। बुद्ध भगवान् के ठुकराये जाने पर वह उदयन को रानी बनती है, वहाँ पद्मावती को नीचा दिखाने के उद्योग में स्वयं षडयंत्र का शिकार बन जाने के कारण, छिपकर भाग निकलती है। और श्यामा वेश्या बन कर विरुद्धक को फँसाती है, उसकी यथार्थ सहायता करती है, पर विरुद्धक उसका गला घोटकर भाग जाता है, भगवान बुद्ध उसे प्राणदान देते हैं, वह मल्लिका के आश्रम में आम्र-पाली बन जाती है। वहीं भगवान् तथागत की कृपा उसे प्राप्त होती है, और वह संघ की शरण में चली जाती है।

चौथी कहानी मल्लिका की है—विरुद्धक उसे चाहता है पर बंधुल से उसका विवाह हो जाता है। बंधुल की प्रसेनजित की प्रेरणा से हत्या होती है पर मल्लिका उसे क्षमा करती है। बुद्ध धर्म में दीक्षित है वह, सब को क्षमा करती है विरुद्धक को और अन्त में विरुद्धक को प्रसेन-जित द्वारा क्षमा कराती है।

पाँचवी कहानी उदयन की है। वह मागंधी के भ्रम में पड़ कर पद्मावती को मारने को सन्नद्ध हो जाता है पर भ्रम का उद्घाटन हो जाता है। और वासवदत्ता के उद्योग से पद्मावती के सत्य की रक्षा हो जाती है।

छठी कहानी देवदत्त और भगवान बुद्ध की है। देवदत्त भगवान बुद्ध से प्रतिद्वन्द्विता ठानता है, उन्हें स्थान-स्थान पर नीचा दिखाना चाहता है, प्रतिपद पर उसे ही नीचा देखना पड़ता है।

'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में इस अज्ञातशत्रु से भी अधिक जटिलता आ जाती है। एक कहानी स्कन्द गुप्त की है, दूसरी पुरगुप्त और भटार्क की है—स्कन्दगुप्त मगध से असन्तुष्ट है, फिर भी साम्राज्य रक्षा के लिए मालव की सहायता करता है, मालव में सम्राट पद प्राप्त करता है, फिर षडयन्त्र में घिर कर कुछ काल के लिए लुप्त हो जाता है। उसका पुनरोदय होता है और साम्राज्य प्राप्त करता है। पुरगुप्त, अनन्तदेवी, भटार्क और प्रपञ्चबुद्धि के हाथ का खिलौना बना हुआ विविध षडयन्त्रों में लिप्त होता है, अन्त में स्कन्द उसे क्षमा करता है। तीसरा सूत्र देवसेना और विजया का, चौथा मातृगुप्त का, पाँचवा धातुसेन का, छठा शर्वनाक का है। यही नहीं कि विविध सूत्रों की गिनती अधिक है, पर इसमें ये छोटे बड़े सूत्र 'अजातशत्रु' की अपेक्षा बहुत अधिक उलझे हुए हैं। किसी सूत्र का कोई भाग कहीं स्फुट होता है, कोई कहीं। उदाहरणार्थ देवसेना मालव में दिखाई पड़ती है, फिर प्रपंचबुद्धि की उग्रतारा के लिए वलि के लिए उसे नाटककार प्रस्तुत करता है, स्कन्दगुप्त के प्रेम में मग्न होते होते वह हमें कनिष्क स्तूप के पास पर्णदत्त के साथ भिखारिन बनी दीखती है....... इसी प्रकार सभी सूत्र उलझे हुए।

और सब से अधिक जटिल है 'चन्द्रगुप्त' किन्तु उसकी जटिलता अन्य नाटकों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें विविध कथा-सूत्र अलग-अलग प्रधावित होते हुए एक दूसरे से नहीं उलझते। इसकी जटलिता स्थूल कथा-सूत्रों में नहीं, कथा-सूत्र तो अत्यन्त घनिष्ट रूप से एक ही गति से बिना विश्रृंखलित हुए चला जाता है। यों इसमें कहानियाँ हैं:—१ राक्षस और सुवासिनी की, २ अलका और सिंहरण की, ३ शकटार की, ४ चन्द्रगुप्त और कल्याणी की, ५ मालविका और चन्द्रगुप्त की, ६ चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया की, ७ पर्वतेश्वर की और प्रधान कहानी है चन्द्रगुप्त : नन्द :: चाणक्य राक्षस। दो बड़ी कहानियाँ इस एक नाटक में हैं। १. चन्द्रगुप्त द्वारा पञ्जाब की राज्य क्रान्ति में

भाग लेकर सिकन्दर को परास्त करना और मगध का राज्य हस्तगत करना। २. मगध साम्राज्य हस्तगत कर लेने के पश्चात् सिल्यूकस से उसकी रक्षा कराना और कार्नेलिया से विवाह तथा राक्षस की मन्त्री पद पर पुनः प्रतिष्ठा अथवा चाणक्य को सूत्र मान कर देखा जाय तो पहला भाग है उसकी बौद्धिक उत्तेजना का बढ़ते चले जाना, और दूसरा भाग है धीरे-धीरे शमन होना और पूर्ण त्यागी होना। इन विविध सूत्रों और कहानियों की ग्रंथन में सूक्ष्म जटिलता है। स्थूल रूप से नाटक अन्य नाटकों से अधिक व्यवस्थित और संश्लिष्ट है।

इन सभी नाटकों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि नाटककार के पात्र गिनती में बहुत होते हुए भी स्वभाव भेद से प्रमुखता रखने वाले बहुत हैं और उन्हें प्रत्येक नाटक में देखा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें क्रमशः विकास होता गया है। अब एक पात्र ऐसा मिलेगा, जो अन्तर में विरक्ति का बीज लिए हुए बाह्यतः अनुरक्त है, और सब से अधिक क्रियाशील दिखाई पड़ता है, जिसके मार्ग में पतन नाम की चीज नहीं, सत्य को सम्भवतः वह ग्रहण कर चुका है और अपने चरित्र में वह बढ़ता हुआ उसका विकास ही करता जाता है—क्रमिक विकास, जिसमें ऊँचाई तो आती जाती है, नीचाई नाम के लिए भी नहीं। विशाख में हमें प्रेमानन्द मिलते हैं, 'राज्यश्री' में इस पात्र की दिवाकर मित्र में केवल एक झलक मिलती है, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में यह पात्र वेद और वेदव्यास में झाँकता तो है पर जैसे शक्ति नहीं ग्रहण कर पाया, 'अजात शत्रु' में यह भगवान बुद्ध बन गया है 'स्कन्दगुप्त' में फिर यह ओझल हुआ है, यद्यपि इसके गुण स्कन्दगुप्त में ही झिलमिला उठे हैं, और कुछ क्षण के लिए प्रख्यात-कीर्ति में भी यह प्रत्यक्ष हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' में तो इसने अपनी पूर्णता चाणक्य के रूप में प्राप्त करली है। चाणक्य का चरित्र आरम्भ से अन्त तक आदर्श और पूर्ण है; बल, गति, तेज और मेधा का उसमें पूर्ण परिपाक है; कहीं-कहीं उसमें उसके स्वभाव-विरुद्ध वाक्-चांचल्य

दीखता है, पर वहाँ सम्भवतः नाटककार के चाणक्य के दर्शन में उग्रता के साथ क्रोध-चांचल्य का पुट मिल गया है, और उस मिश्र भाव को लेखनी यथार्थ प्रगट नहीं कर सकी।

दूसरे प्रकार के वे पात्र हैं जो वाह्यतः विरक्त हैं और अन्तर में घोर प्रवृत्ति और वासना के शिकार हैं। वाह्य विरक्ति उनमें परिस्थितियों के कारण है। 'विशाख' में महन्त सत्यशील, 'अजात' में समुद्रदत्त, 'नागयज्ञ' में काश्यप, इसी प्रकार के चरित्रकी अभिव्यक्ति करते हैं।

एक ऐसा पात्र प्रसाद जी के नाटकों में मिलता है, जिसमें बड़ी गति, और तीव्रता मिलती है, किसी भी निश्चय पर बड़ी जल्दी पहुँचता है, जो भीषण से भीषण कृत्य करने से भयभीत नहीं होता, अत्यधिक आवेगस्पन्दनशील, जो एक नहीं अनेकों रूप भरता है—और इस सबका केन्द्र होती है उसकी उग्र महत्वाकांक्षा। इस चरित्र में यथार्थ रोमांस, रूपासक्ति और शौर्य मिलता है। इस चरित्र में नाटककार को बड़ा मोह है। पुरुष और स्त्री दोनों में ही उसे ऐसे चंचल, किन्तु प्रबल चरित्र उद्भासित मिले हैं। 'विशाख' का भिक्षु इसी प्रबल चरित्र का बीज है, यद्यपि उसमें कोई Scruple नियामक तन्त्र नहीं मिलता। 'विशाख' का भिक्षु तो एक प्रकार से चरित्र हीन है, हेय स्वार्थ में केन्द्रित और उसी में घिरा हुआ। पर हम उसे आवश्यकतानुसार कई रूप बदलते देखते हैं—पहले वह भिक्षु है, फिर राजकीय प्रलोभन में फँस कर धूर्त्त बनना चाहता है, और ठग साधु। यही चरित्र 'राज्यश्री' में शान्ति भिक्षु बनता है, वह भी पहले भिक्षु बनता है, फिर दस्यु बनता है इसकी अन्त में पुनः परिणति होती है। 'अजातशत्रु' में यही पात्र विरुद्धक होकर इस पात्रता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है—राज पुत्र है, फिर दस्यु शैलेन्द्र बनता है, अन्त में मल्लिका से क्षमा पाता है और राज्याधिकार भी। इसी चरित्र की भीषणता हमें 'स्कंदगुप्त' के भटार्क में मिलती है।

भटार्क में यह मौलिक पात्र अपना पहलू बदल गया है, मौलिक

रूप में तो वह विविध सूत्रों में भूलता है और बाह्यतः विविध रूप धारण करता है, अपने नाम भी बदलता है। भटार्क, भटार्क ही रहता है, कुटिलताओं से परिपूर्ण, यद्यपि चरित्र में दिव्य संभावनाएँ भी रखता है। महत्वाकांक्षा जो पात्र के मौलिक रूप में उसको एक नैतिक बल प्रदान करती थी—इसमें दुर्बलता बन गई है। दस्यु अथवा साहसिक होना प्रबल व्यक्तित्व का रूप है, गुप्त षडयन्त्रों में वैयक्तिक स्वार्थ के लिये लिप्त होना हीन और कायर भावना का द्योतक है। प्रसादजी के इन पात्रों में यह विशेषता है कि ये पतन के चरम तल पर पहुँच कर ही परिणति प्राप्त करते हैं—ऐसे पात्रों की कुञ्जी नाटककार ने स्वयं 'राज्यश्री' में विकटघोष के द्वारा प्रगट कर दी है। वह सुरमा से कहता है—"पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा ! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं।" भटार्क का मृदु और शिष्ट संस्करण 'चन्द्रगुप्त' में राक्षस के रूप में प्रकट हुआ है। राक्षस के पास भटार्क की तलवार नहीं; फलतः वह सैनिकत्व और वह उद्दण्डता भी नहीं।

जिन बन्धुवर्मा और भीमवर्मा के पहले पहल 'स्कन्दगुप्त' में दर्शन होते हैं, आत्यंतिक भक्ति के प्रतीक; वही 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण का अवतार धारण करते हैं। दोनों ही मालव हैं, कृतज्ञता की साक्षात मूर्ति और जिसे एक बार चाह लिया है उसके लिए सर्वस्व त्याग करने को प्रस्तुत।

नाटक के नायक बहुधा एक दार्शनिक उदासीनता से युक्त मिलते हैं, और उनमें अनूठी निष्क्रियता भी पायी जाती है! यह गुण 'अजातशत्रु' में तो बहुत ही प्रत्यक्ष है। विशाख भी संसार के झंझटों में पड़ता अवश्य है पर पुरुषार्थ के अवसर पर एक किंकर्तव्य विमूढ़ता कभी-कभी उसे भी घेर लेती है। स्कन्दगुप्त तो इसी उदासीनता को साथ लिये आगे बढ़ता है, और उसके कर्तृत्व से अधिक इस दार्शनिक उदासीनता का रूप हमें अधिक दिखाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त स्पष्ट

अपवाद है, यद्यपि वह चाणक्य पर आश्रित है, पर न तो उदासीन है और न कर्तृव्य-विहीन। उसका अपना प्रबल व्यक्तित्व और मेधा निरन्तर दिखाई पड़ती है, चाणक्य के समान मेधावान न होते हुए भी वह किसी के हाथ का खिलौना नहीं बना। शौर्य और तेज के साथ ही सहृदयता उसमें विद्यमान है।

ऐसा कहा जाता है कि प्रसादजी के पुरुष-पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्र अधिक सफल और सजन तथा सजीव हैं। नाटक के सूत्र उनके द्वारा ही यथार्थ नाटकत्व ग्रहण करते हैं 'वे पुरुष-पात्रों को मन चाहा नाच नचाती हैं। प्रसादजी के नाटक स्त्रीत्व प्रधान है। 'चन्द्रगुप्त' को छोड़कर शेष के लिये यह कथन ठीक है। जो तेज 'अजातशत्रु' की छलना में और मल्लिका में है, 'राज्यश्री' की राज्यश्री में है, 'स्कन्दगुप्त' की अनन्तदेवी, देवसेना और विजया में है, वह पुरुषों में नहीं मिलता। पुरुष हारे-हारे से और व्यग्र से लगते हैं। कुछ नाटकों का तो मूल-संघर्ष स्त्री-प्रतिस्पर्द्धा में ही है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' मनसा और सुरमा के संघर्ष से ही आरम्भ होता है। सुरमा कहती है—'और मैंने विश्व-मैत्री तथा साम्य को आदर्श बनाकर नाग-परिचय का यह अपमान सहन किया है।" और आगे भी—

"बस, अब जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती। मनसा, मैं जाती हूँ।"

और मनसा कहती है अपने भाई वासुकि से—

"बस बस! कायरों की संख्या न बढ़ाओ। नागों के विश्वविश्रुत कुल में तुम्हारे सदृश निर्जीव व्यक्ति भी उत्पन्न होंगे, ऐसी सम्भावना न थी!········खाण्डव की ज्वाला के समान जल उठो! चाहे उसमें आर्य भस्म हों, और चाहे तुम"

मनसा की यह उत्तेजना काम करती है और वह आर्यों और नागों का घोर युद्ध और नाश उपस्थित करा देती है। जब उसकी आँखें खुलती हैं तभी अवस्था सम्हलती है।

'अजातशत्रु' में छलना और वासवी का सपत्नी द्वेष ही नाटक के लिए आदि से अन्त तक सामग्री देता है, और पुत्र-संकट में जब छलना को वासवी के यथार्थ स्नेह का ज्ञान होता है, तभी उसकी आँखें खुलती हैं, और तभी नाटक अपनी सहज विश्रान्ति पर पहुँच जाता है।

यही सपत्नी द्वेष 'स्कन्दगुप्त' में भी काम कर रहा है। नाटक की गति में तीव्रता और उग्रता अनन्तदेवी के इसी द्वेष के कारण आती है। स्कन्दगुप्त के समस्त कर्तृत्व का जैसे यही भूमिका-पट बना हुआ है। जिस समय अनन्तदेवी यह कह उठती है—

"क्यों लज्जित करते हो स्कन्द ! तुम भी तो मेरे पुत्र हो"—नाटक समाप्त हो लेता है, क्योंकि सपत्नी भाव का पूर्ण विवेचन यहाँ हो जाता है।

ऐसे तेज और कर्तृत्व के साथ ही मनोरम सुषमा और काव्यमय चरित्र प्रसादजी की स्त्रियों में ही हैं। 'अजातशत्रु' की मल्लिका 'आलोक पूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में' ही अवतीर्ण हुई लगती है। उसका चरित्र और वचन सभी काव्यमय हैं; उसके बौद्ध-धर्म के आचारों को अद्भुत सुषमा से रञ्जित कर अपने चरित्र के द्वारा प्रस्तुत किया है। संगीत की स्वर लहरी-सी देवसेना स्कन्दगुप्त के रोम-रोम को झंकृत किए हुए है। विजया भी काव्य ही है, भले ही वह अपकाव्य हो—इनके चरणों में पुरुषों का पर्यवसान है। ये अपने व्यक्तित्व से पूर्ण तेजवान हैं और बड़े-बड़े पुरुष इनमें विसर्जित हो रहे हैं। मल्लिका ने प्रसेनजित और विरुद्धक को श्रीहीन कर दिया है, देवसेना से स्कन्दगुप्त विसर्जित है। विजया तो उल्कापात सी जिधर चल पड़ती है उधर स्कन्द से लेकर भटार्क तक को इतस्ततः कर देती है।

'चन्द्रगुप्त' में भी स्त्री का स्थान अक्षुण्ण है—अलका, कल्याणी,

कार्नेलिया, सुवासिनी, मालविका सभी का अपना व्यक्तित्व है, सभी सशक्त है, यद्यपि यहाँ पुरुष भी प्रबल हो उठा है, इसलिए स्त्रियों में भी काव्यमयता कम हो गयी है। फिर भी प्रत्येक के वक्ष में एक मनोरम रसमय हृदय स्पन्दन कर रहा है। 'चन्द्रगुप्त' में इसीलिए हमें मिलता है कि स्त्री का स्थान तो पूर्ववत अक्षुण्ण है, पुरुष ने आगे बढ़कर पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया है; सिंहरण और अलका एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हुए भी अपने-अपने व्यक्तित्व के केन्द्र से संचालित हैं। सिंहरण अलका के समक्ष दीन नहीं हुआ और स्त्री भी—हृदय को हारे हुए भी इस स्त्री ने अपना व्यक्तित्व नहीं हारा है। हृदय-हार कर मालविका मुख से बिना कभी प्रणय-याचना किये चन्द्रगुप्त के लिए उत्सर्ग कर गयी है। कल्याणी ने भी हृदय-हारा है, व्यक्तित्व नहीं—यह कहती है चन्द्रगुप्त से—

"परन्तु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त!"........वह आगे कहती है—

"परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को—प्रेम-पीड़ा को मैं पैरों से कुचल कर—दबा कर खड़ी रही! अब मेरे लिये कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा। पिता, लो मैं भी आती हूँ।"......और वह छुरी मार लेती है, यानी व्यक्तित्व नहीं हारती।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त में ही आकर पुरुष और स्त्री कन्धे से कन्धा भिड़ा सके हैं।

नाटकों में प्रधानता करुणा-पूर्ण मानवीय सहानुभूति की रही है—कोमल प्रेम के रेशमी धागों से इस करुणा का दिव्य पट बुना गया है। कवि की करुणा का यह स्वप्न 'चन्द्रगुप्त' में बदल गया है।

नाटकों के पात्र प्रधानतः नियति के इङ्गितों के कन्दुक से लगते हैं, अन्धकारावृत कर्म-रहस्य के अनायास संघटन से वे इधर-उधर उत्क्षेपित होते दीखते हैं। सभी नियतिवादी हैं, पर 'चन्द्रगुप्त' में नियति का यह खेल भी बदला हुआ है।

ब्राह्मण चाणक्य में नाटककार ने करुणा को क्रूर, नियति को ब्राह्मण के संकेतों पर नाचने वाली बना दिया है। ब्राह्मण ने जो निश्चय किया है वह होगा ही, अन्यथा नहीं हो सकता। चाणक्य सुवासिनी को बता रहा है—

"तब, हम लोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें? मैं क्रूर हूँ। केवल वर्तमान के लिये; भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिये नहीं। श्रेय के लिए मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए।"

आगे ब्राह्मण का आदर्श चाणक्य ने स्वयं इन शब्दों में बताया है—

"मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवन दान; सूर्य के समान अबोध आलोक-विकीर्ण करना; सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना—यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।" यह ऐतिहासिक नाटक थे।

'कामना' और 'एक घूँट' के कथानक कल्पनाजन्य हैं। 'कामना' में मानव की विविध प्रवृत्तियों का रूपक है, उनके द्वारा आज की स्वर्ण और मदिरा की सभ्यता का भ्रम प्रदर्शित किया गया है। इसमें मूलतः ही विकार और दोष हैं, वह पल्लवित और प्रसारित होने पर हानि ही कर सकती है। नाटक के समाप्ति पर पहुँचने के निकट विनोद ने कहा है—

"मदिरा और स्वर्ण के द्वारा हम लोगों में नवीन अपराधों की सृष्टि हुई—और हुई एक महान माया-स्तूप की रचना। हमारे अपराधों ने राजतन्त्र अवतारणा की। पिता की सदिच्छा, माता का स्नेह, शील का अनुरोध हम लोगों ने नहीं माना। तब अवश्य दण्ड के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

'एक घूट' उन्मुक्त प्रेम (Freelove) पर एक टिप्पणी है। बनलता ने समस्त नाटक का सार-भाव इन शब्दों में रखा है—

"असंख्य जीवनों की भूल भुलैया में अपने चिर परिचित को खोज-निकालना और किसी शीतल छाया में बैठ कर एक घूँट पीना और पिलाना—क्या समझे ?"

प्रसादजी ने अपने नाटकों के द्वारा एक नया युग निर्माण किया है—मौलिक सृजन की ओर वेगपूर्वक हिन्दी को उन्होंने प्रभावित किया है।

प्रसादजी का 'अजात शत्रु'

प्रसादजी की प्रतिभा पर हमें गर्व है। साहित्य के जिस अङ्ग का उन्होंने स्पर्श किया, एक दिव्य क्रान्ति के साथ वह निखर पड़ा। नाटक के क्षेत्र में हमें उसी आभा के दर्शन होते हैं। उनके अधिकांश नाटक इतिहास के प्रस्तर खण्डों पर खड़े हैं। बँगला में द्विजेन्द्र बाबू ने जहाँ मुगल भारत से साहित्य-सृजन के लिए प्रेरणा ली, वहाँ प्रसादजी ने बौद्धकालीन भारत को चुना। 'अजातशत्रु' का कथानक उसी काल की वस्तु है। बौद्ध-काल का वह शैशव था। राष्ट्रीय-सत्ता छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरी पड़ी थी। राज्य-परिवारों के अन्तर्कलह और पारस्परिक वैमनस्य से वातावरण दूषित था। इतिहास की इसी पृष्ठ-भूमि पर यह नाटक खड़ा किया गया है। बौद्ध-दर्शन की धारा इन गृह-कलहों में से प्रवाहित होती है। आदर और उपेक्षा दोनों का उन्हें सामना करना पड़ता है। उपेक्षा और विरोध अन्त में उसके सहायक ही सिद्ध होते हैं। बौद्ध-धर्म और बौद्ध-दर्शन में लेखक की श्रद्धा और विश्वास है। आगे चल कर श्रद्धा का सूत्र कमजोर पड़ गया है। स्कन्दगुप्त को छोड़ विशाल, राज्यश्री, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी केवल बौद्ध-काल की पृष्ठभूमि पर ही खड़े हैं। उनमें न तो बौद्ध-धर्म के लिए लेखक का मोह है और न बौद्ध-दर्शन की मान्यता के लिए आग्रह, पर बुद्ध अवश्य उनके आदर के पात्र बने रहे।

'अजातशत्रु' का कथानक तीन राज्य-परिवारों के कलह को लेकर चलता है। मगध, कोशल और कोशाम्बी इन अन्तर्विद्रोहों के रङ्गमञ्च हैं। मुख्य कथानक में मगध का गृह-कलह आता है। इस गृह-कलह का केन्द्र छलना की महत्वाकांक्षा है। यह महत्वाकांक्षा इतनी बलवती हो

उठती है कि कौशल और कौशाम्बी को भी मगध के गृह-कलह में भाग लेना पड़ता है। वासवी मगध नरेश की बड़ी रानी और कौशलाधीश प्रसेनजित् की बहिन है। काशी को लेकर उठा हुआ विद्रोह कोशल को अजातशत्रु के विरुद्ध युद्ध में खींचता है। कोशल के गृह-कलह को लेकर यह कथानक उठता है और मुख्य कथानक में आकर मिल जाता है। कोशल का गृह-कलह महामाया की महत्वाकांक्षा के केन्द्र पर घूमता है पर मुख्य कथानक के साथ उसका सम्बन्ध छलना की महत्वाकांक्षा के कारण ही है। तीसरे कथानक में कौशाम्बी का गृह-कलह आता है। मागन्धी इसका केन्द्र है। मगध और कौशाम्बी को मिलाने वाली बड़ी पद्मावती (वासवी कन्या) है, उसी प्रकार जैसे मगध और कोशल का सम्बन्धसूत्र वासवी है। वासवी में अधिकार पर उठी हुई आँच कौशाम्बी को अजातशत्रु के विरुद्ध युद्ध में आकर्षित करती है। इसका भी मूल कारण छलना की ही महत्वाकांक्षा है। इस प्रकार मगध और कोशल के गृह-कलह छलना और महामाया की महत्वाकांक्षा के परिणाम हैं। विद्रोह की आग वहाँ राजकुमारों द्वारा भड़काई जाती है। कौशाम्बी में यह सौतिया डाह का फल है। ये गृह-कलह स्वतन्त्र नाटकों के कथानक बन सकते थे पर प्रसाद ने उन्हें आपस में गुम्फित कर दिया है। मगध का राज्य-विद्रोह चुम्बक बनकर उन्हें अपनी ओर खींच लेता है।

प्रसादजी के नाटकों का एक सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्ष होता है। भौतिक संघर्ष उस पक्ष की सबलता के लिए लाए जाते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में अरस्तू और चाणक्य की चोट है; यूनानी और भारतीय संस्कृतियों की मुठभेड़ है। 'स्कन्दगुप्त' में भी उनका दार्शनिक चिन्तन मिलता है। त्याग और क्षमा के नैतिक सिद्धान्तों का वहाँ प्रतिपादन किया गया है। इस नाटक में प्रेम, दया और अहिंसा के तत्वों से अनुप्रासित होकर बौद्ध-दर्शन की धारा अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित हो रही है। देवदत्त की गौतम से प्रतिद्वन्द्विता समानान्तर कथानक की रचना के

लिए नहीं है, वह तो कथानक की त्रिवेणी को बल प्रदान करने के लिए है। एक ओर वासवी, मल्लिका, पद्मावती और बिम्बसार हैं; दूसरी ओर छलना, महामाया, अजातशत्रु और देवदत्त हैं। एक ओर करुणा, प्रेम और दया है, दूसरी ओर हिंसा, छल और निष्ठुरता। एक ओर अहिंसा को भिक्षुकों की भद्दी भीख समझा जाता है, दूसरी ओर उसी अहिंसा-व्रत के लिए आग्रह है। सत् और असत् के इस द्वन्द्व में सत् की विजय होती है। प्रसाद का यह आशावाद उनकी निजी विशेषता है। प्रेम और अहिंसा जीवन में समता और शान्ति स्थापित करने के लिए लाए गए हैं। बिम्बसार के चरित्र में यद्यपि एक अल्प अकर्मण्यता मिलती है, लेकिन अन्य स्थलों में तो सर्वत्र बौद्ध-धर्म का दुःखवाद कर्त्तव्य पर ही जोर देता है। उसकी वीतराग प्रवृत्ति जीवन में उच्चता ही लाती है।

नाटक का नायक 'अजातशत्रु' है। अजातशत्रु में नायक का उत्तरदायित्व नहीं। वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष अवश्य है, नाटक का नायक बनने की उसमें क्षमता है पर इस नाटक में वह पात्रों की गति को आगे संचालित करता हुआ दिखलाई नहीं पड़ता। नायक का ओज, तेज और अग्रसरता उसमें नहीं। एक झीने आवरण के अन्दर से उसकी नेतृत्व शक्ति झलकती अवश्य है। उसकी प्रवृत्ति सहज ही क्रूर और हिंसात्मक है। उसके चित्रक के लिए मृगशावक चाहिए ही। देवदत्त और समुद्रगुप्त की संगति से उसकी इस मनोवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिलता है, फिर छलना जो उसकी संरक्षिका, माता और संचालिका है! पर अधिकतर वह एक आलसी, किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा पात्र है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं—सभी स्थलों पर दूसरों से प्रभावित और प्रदर्शित प्रतिहिंसा की चिनगारी को ले वह मल्लिका के यहाँ जाता है, प्रेम और दया की शिक्षा को ले वापस लौटता है। युद्ध को जघन्य कर्म समझ वह अकर्मण्य हो जाता है। दूसरे ही क्षण छलना के व्यंगमय फटकार उसे युद्ध के लिए प्रस्तुत कर देते हैं। इस

तरह एक गुड़िया की तरह उसका व्यक्तित्व सून्य-सा रहता है। क्या यही अजातशत्रु नाटक का नायक है? पर एक बात है, नाटक के सभी सूत्र अजात से सम्बन्धित हैं, या तो वे उसको लेकर चलते हैं या वे उस पर आकर मिलते हैं। मगध में छलना की लालसा का केन्द्र वही है और कोशल तथा कोशाम्बी के विद्रोह भी उस पर आकर अटक जाते हैं। इस दृष्टि से भले ही उसे नाटक का नायक मान लिया जाय, अन्यथा नाटक नायकहीन ही है।

विरुद्धक में हम फिर भी ओज पाते हैं। उसमें तेज और महत्वाकांक्षा है, यौवन की लालसा और अवरुद्ध उत्साह है। सबसे ऊपर उसे अपनी भुजाओं पर विश्वास है। उसके जीवन की इस गति की संचालिका उसकी माँ अवश्य है, लेकिन वह सामने नहीं आती। पर श्यामा के प्रति विरुद्धक की क्रूरता को क्या हम क्षमा कर सकते हैं? मनुष्य के पतन का क्या वह चरम नहीं? जिस नारी ने अपने रूप और यौवन को विश्वास के साथ उसे समर्पित कर दिया, क्या उस विश्वास का गला नहीं घोंटा गया? नाटककार इसका समाधान केवल एक तर्क से करता है कि यह जघन्य कर्म श्यामा के त्रिया-चरित्र को मिटाने के लिए किया गया। मरते ही इस नाटकीय घटना से बुद्ध के चरित्र की उज्ज्वलता निखरी हो, क्या विरुद्धक से वीर के लिए यह लज्जा की ही वस्तु मानी जायगी।

बिम्बसार एक विरक्त दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आता है। वह एक सैद्धान्तिक व्यक्ति है – अपने आप में व्यस्त-जीवन की ग्रन्थियों को सुलझाने में परेशान। बुद्धि के संकेत पर वह राज्य त्याग देता है। कभी-कभी उसे अपनी अकर्मण्यता पर खीझ अवश्य उत्पन्न होती है, पर वह विवश है। उसकी यह अकर्मण्यता स्वभाव-जन्य नहीं। उसे धार्मिक और दार्शनिक प्रश्रय मिल जाने के कारण ही वह हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है। बिम्बसार की अन्तर्चेतना में हमें प्रसादजी का भाग्यवाद मिलता है। बिम्बसार यदि सम्राट् न होकर किसी विनम्रलता

के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता तो शायद उसे अधिक प्रसन्नता होती। राज्य की तह में सुलगती हुई विद्रोह की आग और मानव-जीवन की करुण व्यथा से वह उत्पीड़ित है। उसके निष्क्रिय जीवन की हम प्रशंसा नहीं कर सकते, न उससे घृणा ही करते बनती है।

पुरुष पात्रों में इस तरह गति नहीं, जीवन नहीं। विरुद्धक है पर वह सहानुभूति नहीं पाता। बन्धुल है पर शीघ्र ही उसकी जीवन यवनिका समाप्त हो जाती है। अजात भी निष्क्रिय नायक (Passive Hero) है। प्रेरणा मिलने से ही वह गतिशील होता है। स्त्री-पात्र अवश्य ही सजीव हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि ने पुरुष को कोमल से बाँध रखा है!

छलना में मातृत्व की महत्वाकांक्षा है। सपत्नीक द्वेष उसमें रोष का प्रमुख कारण नहीं। यह द्वेष स्वभावजन्य नहीं मालूम पड़ता। इसमें तेज है, ईर्षा है, प्रतिद्वन्द्विता है, राजमाता बनने की लालसा है। इसीलिए वांछित और अवांछित मार्गों को अपनाने में वह नहीं झिझकती। काशी पर अधिकार प्राप्ति का सन्देश वह स्वयं वासवी को सुनाने के लिए जाती है। वासवी को चिढ़ाना ही उसका मुख्य ध्येय है। अजात के बन्दी होने पर माता की ममता उग्र रूप धारण कर लेती है। पर वासवी के चरित्र की उज्ज्वलता और पवित्रता के सम्मुख उसे झुकना पड़ता है। छलना में इस तरह उफान है, वासवी में संयम। वासवी की पति में भक्ति है, छलना को भी उनसे कोई द्रोह नहीं। वासवी के हृदय में भी मातृत्व विकसित हुआ है पर उसका दृष्टिकोण दूसरा है। पद्मावती उसके चरित्र की पवित्रता का प्रतिनिधित्व करती है। बन्दी अजात के लिए वासवी स्वयं व्यग्र हो उठती है। छलना को स्वीकार करना पड़ता है कि अजात की सच्ची माता यही है, वह स्वयं तो एक धाय ही रही। बिम्बसार की दार्शनिक प्रवृत्ति का उसमें (सैद्धान्तिक नहीं) व्यावहारिक रूप पाते हैं। काशी पर अधिकार

बनाए रखने की आवश्यकता उसे पति की सुविधा के लिए ही प्रतीत होती है। छलना से उसे कोई द्वेष नहीं। बौद्ध भावनाओं से वह प्रभावित है। प्रेम, दया और अहिंसा उसके जीवन के मन्त्र हैं। भारतीय नारी की वह शुद्ध प्रतिमूर्ति है। माता का स्नेह, पत्नी का उत्तरदायित्व और नारी का गौरव उसमें मिलता है।

मागन्धी का एक उलझा हुआ चरित्र (Complex character) है! उसके जीवन में कितने ही उतार चढ़ाव आते हैं। रूप और यौवन की अतृप्त लालसा का वह शिकार बनी रही। अन्त में उसके जीवन का भी काया पलट होता है। मल्लिका में शुद्ध निर्मल तेज है। बुद्ध-धर्म की उसमें ज्योति है। सम्राटों के सिर भी उसके सामने झुकते हैं। विरुद्धक का प्रेम उसे अपने मार्ग से नहीं डिगा सकता। वह मानवी न रहकर देवी बन जाती है।

नाटकीय न्याय प्रायः प्रत्येक पात्र के साथ हुआ है। सभी पात्रों के उद्देश्य पूरे से होते मिलते हैं। समुद्रगुप्त का जीवन समाप्त हो जाता है। देवदत्त का भी पता नहीं चलता। इतिहास में देवदत्त अपने कुकर्मों से लज्जित हो बुद्ध के पास क्षमा माँगने के लिए जाता है, पर रास्ते में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ इस वर्णन में एक नाटकीय परिवर्तन कर दिया गया है। जीवक के चरित्र के साथ ऐतिहासिक न्याय नहीं किया गया है। जीवक एक कर्मठ पुरुष था और सुयोग्य वैद्य। एक साधारण विदूषक के द्वारा उसका मजाक कराया जाना अशिष्ट लगता है। ऐसे इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति से दूत कार्य कराना अच्छा नहीं लगता। हास्य भी निखर नहीं सका। अच्छा हुआ कि प्रसाद ने आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' में हास्य का पुट नहीं मिलाया।

अजातशत्रु द्वारा बिम्बसार की हत्या प्रसादजी को स्वीकार नहीं थी। नाटक के अन्त में बिम्बसार का लड़खड़ा कर गिरना उसकी स्वतः मृत्यु का सूचक है। स्वतः से यह तात्पर्य नहीं कि वह स्वयं मरना चाहता था। उसकी मृत्यु से नाटक दुखान्त नहीं हो पाया है। उसकी

अन्तिम साँस में सुख और सन्तोष व्यञ्जित होता है। स्वयं पिता हो जाने पर अजातशत्रु ने पिता के हृदय को पहचाना है। अपनी भूल पर उसे दुःख है। पिता से वह क्षमा याचना करता है। छलना भी पश्चाताप करती है। इस आकस्मिक प्रसन्नता का भार विम्बसार वहन नहीं कर सका। निष्क्रिय नायक अजातशत्रु की सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। नाटक का उद्देश्य सफल बन पड़ा है। इस तरह एक सुखमय आत्मा (Spirit) के साथ नाटक समाप्त होता है।

समसामयिकता की छाप भी नाटक में मिलती है। शैली भावात्मक है। भाव और भाषा पर रहस्यवाद तथा छायावाद का प्रभाव है। गान्धीजी की अहिंसा, प्रेम और कर्त्तव्य निष्ठा के दर्शन बौद्ध-विचार धारा के द्वारा होते हैं। स्वागत-कथन और पद्य में उत्तर देने की पद्धति नाटक में कहीं-कहीं मिलती है। यह सन्तोष का विषय है कि प्रसादजी इस दोष से बहुत कुछ बचे रहे। एक प्रश्न रह जाता है कि इस नाटक का अभिनय भी हो सकता है या नहीं। यह निश्चित है कि सामान्य वर्ग की 'जनता के लिए इसके अभिनय में आकर्षण नहीं। प्रसादजी की रचनाओं में प्रसाद गुण का ही अभाव है! कुछ भी हो, यह नाटक हिन्दी नाटकों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

अजातशत्रु : एक दृष्टि

साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति, नाटक के क्षेत्र में भी, प्रसादजी का अपना विशेष स्थान है। उनके नाटक प्रधानतः ऐतिहासिक हैं। वे बड़ी खोज के बाद लिखे जाते हैं तथा गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन पर अवलंबित होते हैं। कई स्थानों पर तो उन्होंने हमारे इतिहास का भी संशोधन किया है। अजातशत्रु द्वारा विम्बसार का वध उन्हें मान्य नहीं। इसमें, प्राचीन बौद्ध कालीन सभ्यता और संस्कृति से पाठकों को अवगत कराना ही हमारे नाटककार का मूल उद्देश्य है। बौद्ध-काल के आरम्भिक दिनों की स्मृति को, इसमें नवीन रूप सजाकर रखा गया है। यह बुद्ध का आविर्भाव-काल था। इसी जगत का एक व्यक्ति हमारे सामने करुणा का एक नूतन और आशाप्रद संदेश लेकर आया था, किसी ने उसका स्वागत किया और किसी ने उसकी उपेक्षा की। इसी आशा और निराशा के बीच, इस नवीन धर्म का विकास, हमारे कथानक का एक मनोरंजक अंग है। जहाँ बिम्बसार, वासवी, पद्मावती और मल्लिका द्वारा इसका पोषण होता है, वहीं अजातशत्रु छलना तथा देवदत्त इसे उखाड़ फेंकने का प्राण-पन से प्रयत्न करते हैं। परन्तु नाटककार तो बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक और उसके अनुयायियों के प्रति अपनी स्पष्ट श्रद्धाञ्जलि प्रदान करता है।

ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि पर अवलम्बित होने पर भी कथानक की रोचकता नष्ट नहीं होने पाई है। मगध, कोशल और कौशाम्बी के सम्बद्ध राज्यों के गृहकलह, आपस के युद्ध और मैत्री व्यापारों से पाठकों को अवगत कराने का बहुत विशद और सफल प्रयत्न किया गया है। अजातशत्रु में लेखक अंतःपुरों में गया हैं। वहाँ के निजी राजकीय विलासों में उसने कथानक के सूत्र पाये हैं। मगध की, कौशल की, कौशाम्बी की, प्रत्येक राज्य की अपनी समस्यायें हैं। फिर

भी वे आपस में असम्बद्ध नहीं। प्रत्येक के शासन की तह में विद्रोह की भीषण ज्वाला सुलगती हुई दृष्टिगत होती है। यदि मगध और कौशल में विद्रोह की चिनगारी वहीं के राजकुमारों के हाथों सुलगाई जाती है तो कोशाम्बी में यह सौतैया डाह का प्रतिफलन है। 'अजातशत्रु में सौतें हैं और सौतिया डाह भी।' 'प्रायः सभी नाटकों में न्याय के महत्व को बढ़ाने के लिए, कूटनीति लेखक को प्रिय रही है। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त सभी में हमें उसी नीति का चक्र घूमता मिलता है।' यदि प्रसेनजित् ने विश्वासघात से सेनापति बन्धुओं का बध करवा दिया तो उससे मल्लिका का त्याग और महत्व तप्त सोने की भाँति निखर उठा। छलना की कूट-मंत्रणा और कुणीक का अशिष्ट व्यवहार बिम्बसार के त्याग को आगे ही बढ़ाने में सहायक हुआ। देवदत्त का विरोध भी यदि कुछ कर सका तो भगवान बुद्ध के महत्व को बढ़ाकर उनके लिए सफलता का मार्ग साफ कर गया। अन्य नाटकों की अपेक्षा 'अजातशत्रु में' लेखक युद्ध व्यवसाय के विरुद्ध रहा है और इसको बहुत दृढ़ता-पूर्वक उसने रखा है।

पात्रों के व्यक्तित्व की ओर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है मानों अजातशत्रु में 'कवि ने पुरुष को कोमल मे बाँध रक्खा है।' पुरुष स्त्रियों के इङ्गित पर नाचने वाले हैं। इनका व्यक्तित्व स्त्रियों के व्यक्तित्व के नीचे दब-सा गया है। स्त्रियाँ अधिक सतेज और जाग्रत हैं और वे ही 'जाग्रत और जीवित सुकुमार राज-कन्याएँ नाटकीय गति-विधि की नियामक तथा संचालक हैं, उनके व्यक्तित्व की परिधि में घिरे-घिरे पुरुष को हम चलते पाते हैं।' छलना और मल्लिका इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

छलना मगध-सम्राट की छोटी रानी और अजातशत्रु की माँ है। इसी की देख-रेख में सारे मगध राज्य का संचालन होता है। इसे राजमाता होने का गर्व है और वीरप्रसू होने की महत्वाकांक्षा। अजात-

शत्रु में जो कुछ भी पुरुषार्थ दृष्टिगत होता है, वह इसी के निरंतर उत्साहित करते रहने के फलस्वरूप है। इस प्रकार विरुद्धक का पुरुषार्थ भी उसकी माँ शक्तिमती की महत्वाकाँक्षा का प्रतिफल है।

आर्या मल्लिका हमारे सामने मानवता के लिए एक आदर्श लेकर उपस्थित होती है। न्याय और सहनशीलता की सजीव मूर्ति मल्लिका, हमारे नारी-समाज के सम्मुख अनुकरण की जीवित वस्तु है। इसके जीवन की तह में एक साधना है जो दुखों से पोषित और कठिनाइयों से पल्लवित हुई है। पति की मृत्यु का समाचार पाकर भी यह कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती। यह नारी है और नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है उसे यह भी अनुभव करती है। परन्तु हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों को छिपाना यह जानती है। इसे अपने पति की वीरता पर अभिमान है, ज्यों-ज्यों दुख और कठिनाइयाँ इसके सामने आती जाती हैं, त्यों-त्यों यह लौकिकता के ऊपर उठती जाती है, और अन्त में, मगध, कौशल और कौशाम्बी के बीच यह एक दैवी-संचालिनी शक्ति (Ministring Angel) सी मालूम पड़ती है। सम्राटों को भी इसकी आज्ञा शिरोधार्य है। न्याय और तपस्या की सीढ़ियों पर यह इतनी ऊँची चढ़ चुकी है कि यह एक मानवी नहीं रह जाती। संसार में ऐसे लोग कम पाये जाते हैं, और जहाँ है वे वन्दनीय हैं।

वासवी मगध-सम्राट् की बड़ी रानी है। यह पति-परायणा है। इसमें दया है, क्षमा है और सहनशीलता है। अपने पति और भगवान गौतम की चिरअनुगामिनी है। इसकी पुत्री पद्मावती, सम्राट उदयन की रानी है। इसमें माँ के सब गुण हैं। पति के लिए यह प्राण तक दे सकती है। पति की तलवार को भी यह प्रसाद के रूप में ग्रहण करती है।

मागन्धी क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। पहले एक साधारण गृहस्थ की लड़की है, फिर सम्राट उदयन की छोटी रानी है,

फिर काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी और तत्पश्चात् आम्रपाली के रूप में हमारे सामने आती है। आरम्भ से अन्त तक यह नियति का खिलौना बनी रही। इसके हृदय में अतृप्त वासना है। इसी से यह नियति का शिकार बनी क्योंकि यौवन की उद्दाम तरङ्गों पर सर्वदा नियति का प्रकोप होता आया है। रूप का गर्व इसे बहुत ऊँचा उठाकर ले गया और अब उसने इसे उतना ही नीचे पटक दिया। वासना के प्रवाह में भगवान बुद्ध पर भी इसने अपनी निर्लज्ज दृष्टि डाली थी। "मैंने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था।"...... आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को अपनाकर धन्य हो रही हूँ।......प्रभु! मैं नारी हूँ, जीवन भर असफल होती आयी हूँ। मुझे इस विचार के सुख से वंचित न कीजिए।"

अब पुरुष पात्रों की ओर चलें। मगध का सम्राट् विम्बसार भगवान बुद्ध का अनुगामी है। गौतम के इशारे पर वह राज्य तक छोड़ देता है। यह दार्शनिक सिद्धान्त वाला व्यक्ति है और सदा जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त है। मानव-जीवन में जो पीड़ा है, जो चीत्कार है उससे वह व्यथित है। यह अनुभव करता है कि यदि "मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।"

अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों नाटक के सजीवतम पात्र हैं। इनके जीवन में गति है और है यौवन का विद्रोह। दोनों महत्वाकाँक्षी हैं। सम्राट बनने की लालसा ही इन्हें जघन्य से जघन्य कर्म की ओर प्रवृत्त करती है और यही इनके पतन का मूल कारण है। अच्छे में, बुरे में, सब में, स्त्रियाँ ही इनकी प्रेरणा और इनके पुरुषार्थ की संचालिका हैं। उन्हीं की मंत्रणा से इनका पतन होता है और उन्हीं के उपदेश से इनका उत्थान। इनके जीवन में ऐसे-ऐसे अवसर आये हैं

जब ये साधारण मनुष्यता की सतह से नीचे गिरे मालूम पड़ते हैं। परन्तु फिर भी मल्लिका और वासवी प्रभृति देवियों के सम्पर्क में आकर, इनका उद्धार होता है। यही है प्रसाद का आशावाद। मनुष्य नाच से नीच पतित से पतित हो जाता है पर उसका भी उद्धार होता है। हम सबको समय से सबक सीखना होता है और हम सम्हलते हैं।

प्रसादजी की शैली भावात्मक है। इसमें वस्तु जगत् की घटनाओं की भावावेशमयी अभिव्यञ्जना होती है। फलतः भाषा गतिशील, चित्रमयी और आकर्षक है। गद्य में भी हमें पद्यात्मक अभिव्यञ्जना की अनुभूति होती है। यद्यपि पात्रों के साथ भाषा की शैली बदलती नहीं फिर भी कथोपकथन की शैली मनोवैज्ञानिक होती है और विचारों के अनुरूप ही उसमें कर्कश एवं मधुर पदावलियों का प्रयोग होता है। शैली की भावात्मकता पात्रों को भी भावुक बना देती है। भाषा में निम्नकोटि के पात्र भी भावुक दीखते हैं। भाषा में चमत्कार लाने के लिए वाक्यों के व्याकरण-सम्मत बनावट में उलट-फेर किया गया है। यथा—"हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है?.........जीवन की शान्तिमयी सरल परिस्थितियों को छोड़कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा!"

'प्रसाद' जी की लाक्षणिक-वैचित्र्य-पूर्ण भाषा में कल्पना की क्रीड़ा के लिए यथेष्ठ अवकाश है। जहाँ-जहाँ भी कल्पना के छींटे हैं, भाषा बड़ी सुन्दर हो गयी है। परन्तु लाक्षणिकता और भावुकता के बाहुल्य के के कारण कहीं-कहीं इनकी शैली बुद्धि को सहज ग्राह्य नहीं होती। 'प्रसाद' जी की शैली द्विवेदी युग की नहीं वरन छायावाद-युग के अरुणोदय की प्रतिनिधि शैली है। इस प्रकार 'प्रसाद' के छायावाद का प्रभाव उनके नाटकों में भी स्पष्टरूपेण लक्षित है।

चन्द्रगुप्त

मुद्राराक्षस तथा प्रसादजी और डी० एल० राय महोदय के चन्द्रगुप्त की तुलनाएँ



चन्द्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। विदेशियों द्वारा लिखे हुए इतिहास में भी हम चन्द्रगुप्त का नाम सर ऊँचा करके पढ़ सकते हैं। पहले-पहल चन्द्रगुप्त का नाटकरूप में वर्णन विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस में किया है। आजकल भी चन्द्रगुप्त के नाम से दो नाटक निकले हैं किन्तु इनमें और मुद्राराक्षस में अन्तर है। उस नाटक में चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ में कठपुतली मात्र है। वह नाटक चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक घात-प्रतिघात का खेल है। उसमें दो स्वामिभक्त खिलाड़ियों की शतरंज की चालें हैं। काठ की गोटों के स्थान में जीते-जागते पात्र हैं जिनमें प्रधान चन्द्रगुप्त है। नाटक के आरम्भ से ही चन्द्रगुप्त मगध सिंहासन पर है। राक्षस अपने स्वामी नन्द का पक्ष लेते हुए चन्द्रगुप्त के स्थान में किसी दूसरे को राजपद पर स्थापित करना चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। राक्षस अपनी स्वामिभक्ति में अटल रहता है। चाणक्य राक्षस की बुद्धि और स्वामिभक्ति का लोहा मानते हुए चन्द्रगुप्त के हित में यही चाहता है कि राक्षस उसका मंत्रीपद स्वीकार करले। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है। राक्षस मंत्रित्व स्वीकार करने को बाधित हो जाता है। यही इस नाटक की फल सिद्धि है। इसमें केवल बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी काफी पेचीदा है। इसमें कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है। शृङ्गार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मंत्रियों की स्वामिभक्ति दर्शनीय है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को मुरापुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान कलाकारों ने जिनमें एक हैं बङ्गाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशङ्करप्रसाद—नाटक लिख कर अपनी-अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टि-कोण मुद्राराक्षस से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना कुछ व्यक्तित्व रखते हैं (एक स्थान में मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्व दिखलाया है किन्तु वह चाणक्य की मन्त्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटककारों ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। किन्तु राय महोदय ने उसका नाम हैलेन रक्खा है, प्रसादजी ने उसका नाम कार्नेलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में मन्त्रियों की चोट नहीं है वरन् भारत और यूनान की सभ्यताओं की चोट है अथवा दूसरे शब्दों में चाणक्य और अरस्तू की चोट है दोनों ही में विवाह सम्बन्ध द्वारा भारत और यूनान में सन्धि स्थापित होती है।

उपर्युक्त बातों में समानता होते हुए भी बहुत सी बातों में भेद है। वास्तव में तुलना के लिए समान वस्तुएँ ही तराजू के पलड़े में रक्खी जाती हैं। प्रान्तीय साहित्यों में ऐसे तुलानात्मक अध्ययन का कम अवसर मिलता है क्योंकि दो भिन्न कलाकार एक ही विषय पर कम लिखते हैं। पहले यह बतला देना आवश्यक है कि राय महोदय ने मुगल कालीन भारत के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है और प्रसादजी की प्रतिभा मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई है।

यद्यपि राय महोदय की पुस्तक पहले की है तथापि प्रसादजी की पुस्तक उसका अनुकरण नहीं कही जा सकती है। दोनों नाटकों में चन्द्रगुप्त के जन्म के सम्बन्ध में भेद है। राय महोदय ने विशाखदत्त के साथ सहमत होते हुए चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा शूद्रारानी का पुत्र माना है और प्रसादजी ने अपने नायक को मौर्य नामका क्षत्रिय

सेना नायक का पुत्र माना है। बौद्ध इतिहासकार ऐसा ही मानते हैं। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को मुरा का बुत्र मानकर नाटक में शूद्र माता का स्वाभिमान दिखलाने का अच्छा अवसर पाया है। इस सम्बन्ध में नन्द और मुरा का वार्तालाप बड़ा आकर्षक है। प्रसादजी ने इस प्रकार की वार्तालाप का मोह छोड़कर बौद्ध लेखकों के साथ सहमत होते हुए प्राचीन शास्त्रकारों के मत के अनुकूल अपने नायक को कुलीन नायक रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। जब उसके लिए आधार है तो कुलीन ही क्यों न रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त भाई के मारने में अधिक नृशंसता है। राय महोदय इस बात को स्वीकार करते हुए चन्द्रगुप्त को अर्जुन की भाँति इस कार्य से विचलित भी कराते है। अन्त में नन्द को क्षमा भी कराते हैं। यह सब स्वाभाविक है। दोनों ही नाटककारों ने नन्द का वध शकटार के हाथ से कराया है। यह ठीक है क्योंकि शकटार को ही नन्द से व्यक्तिगत द्वेष था उसी के सात पुत्र मारे गये थे।

नन्द की हत्या में दोनों ही नाटककर चन्द्रगुप्त को भी निर्दोष रखते हैं प्रसादजी ऊपरी तौर से चाणक्य को भी निर्दोष रखते हैं। वह नागरिको से नन्द के छोड़ दिये जाने का प्रस्ताव करता है किन्तु शकटार सहसा आकर अपना बदला लेने को उसकी छाती में छुरा भोंक देता है। राय महाशय चाणक्य और मुरा दोनों को ही कात्यायन के साथ नन्द की हत्या में लपेटते हैं। राय महोदय कात्यायन और शकटाकार को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु कात्यायन जैसे व्याकरण के पंडित से बधिक का काम लेना जरा अनुचित सा मालूम पड़ता है। राय महाशय ने चाणक्य की आज्ञा से नन्द की हत्या कराना दिखाया है। वह चाणक्य के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है किन्तु मुरा का बीच में आकर आदेश देना कुछ अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। कम से कम मुरा के पूर्व कथित वाक्यों के सर्वथा विरुद्ध है। मुरा को मानसिक आघात जरूर पहुँचा था किन्तु चन्द्र के द्वारा कात्यायन के रोके जाने पर भी उसका (मुरा का) बीच में आ जाना और आग्रह पूर्वक वध की आज्ञा देना विमाता को

उच्च भावों से वंचित कर देना है। उसका पीछे से रोना और यह कहना "मैं तो इसकी रक्षा करने आयी थी" चाहे वास्तविक क्यों न हो विडम्बना मात्र दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि राय महाशय ने राज्य विप्लव के कार्य को एक गृह-युद्ध का रूप दिया है। उन्होंने प्रसादजी की भाँति सब काम एक दिन में नहीं समाप्त किया। राय महाशय ने नन्द को बन्दी करा कर फिर वध कराया है। प्रसादजी ने तुरन्त ही उसका काम तमाम कर दिया है। राय महाशय ने नन्द के लिए कोई रोने वाला नहीं रक्खा। प्रसादजी ने नन्द की पुत्री कल्याणी की सृष्टि की है जो वास्तव में कल्याणी थी। अपने पिता के कु-शासन का विरोध करते हुए भी और चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी उसने पिता के वध होने पर आत्म-हत्या कर ली।

प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के राक्षस और वररुचि (कात्यायन) दोनों ही आमात्य माने हैं। राय महोदय ने केवल कात्यायन जिसका उन्होंने शकटार के साथ तादात्म्य किया है मंत्री रक्खा है! शकटार को भी मंत्री बनाने का प्रमाण है किन्तु यह नहीं मालूम कि राय महोदय ने शकटार और कात्यायन का किस आधार पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनों ही के योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के वैर में मूल कारण दोनों नाटककारों के भिन्न-भिन्न आधार पर चाणक्य और नन्द का वैर कात्यायन की साजिश से कराया है। राय महोदय ने चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित कर्म के लिए आमंत्रित करा कर नन्द के साले बाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसादजी ने नन्द और चाणक्य का पुराना वैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था। इसलिए चाणक्य स्वयं ही नन्द से क्रोधित था और तक्षशिला से लौटने पर चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान हुआ। इस बात ने चाणक्य के वैर-भाव को और भी उग्र बना दिया था।

यूनानियों के सम्बन्ध में राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में सिकन्दर और सेल्यूकस के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्‌चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से बच जाता है। प्रसादजी इसके पूर्व की भी कथा बतला कर पाठकों को आश्चर्य में नहीं रखते। राय महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टीगोनस के साथ वाक्-युद्ध कराते हैं। प्रसादजी के नाटक में एन्टीगोनस का स्थान फिलिप्स ले लेता है। प्रसादजी के नाटक में चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते-देखते अपने बाहुबल से अपने को मुक्त कर भाग जाता है, यह जरा अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त इस मौके पर बड़ी निर्भयता से बात-चीत करता है और सिकन्दर को लुटेरा तक कहने में नहीं चूकता। राय महोदय का चन्द्रगुप्त स्वाभिमान रखते हुए परिस्थिति से कुछ डरा हुआ प्रतीत होता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त सिंह की तरह निर्भय है। वह सिकन्दर से कहता है "लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को बीच में एकत्रित करके उन्हें वीर सेना कहना रण-कला का उपहास करना है।" आम्भीक के कहने पर कि शिष्टता से बातें करो चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि वह भीरु कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता।

राय महोदय ने अपने नाटक में सिकन्दर के युद्ध और उसमें उसके जख्मी होने का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रसादजी ने उस ऐतिहासिक घटना का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है इसमें चाहे ब्यौरे की भूल हो परन्तु वर्णन भारत के गौरव को बढ़ाने वाला है। इसमें भारतीयों की उदारता का परिचय दिया।

सेल्यूकस की चढ़ाई के सम्बन्ध में दोनों लेखकों के वर्णन प्रायः एक से ही हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि राय महाशय की हेलना विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह अपने पिता को इस युद्ध के लिए बहुत कुछ रोकती है, यहाँ तक कि कुछ अशिष्टता की भी बातचीत कर बैठती है यद्यपि पीछे से माँफी माँग लेती है। प्रसादजी की कार्नेलिया

चन्द्रगुप्त के प्रति व्यक्तित्व आकर्षण से अधिक प्रेरित प्रतीत होती है।

राय महाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आजाना अस्वाभाविक नहीं है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लोटती सी मालूम पड़ती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कुछ परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रु सेना में राक्षस या कात्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है। दोनों ही नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य हो जाने का वर्णन किया है किन्तु दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त के आधार पर है पर ब्यौरे में कुछ भेद है। मुद्राराक्षस द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में थोड़े स्वाभिमान की रेखा जाग्रत होने का पता चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूट नीति का एक अङ्ग था जिससे कि राक्षस को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। मुद्राराक्षस में जिस उत्सव का उल्लेख है वह वसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात में मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसमें अधिक बड़प्पन नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिलवाया है। दोनों ही नाटककारों का वर्णन प्रायः एक सा है। दोनों ही में यह दिखलाई पड़ता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियंत्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतंक के कारण उसके रोक देने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे पकड़े। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित नरामद और अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव के रोकने में चाणक्य की बुद्धिमता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान में त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कार्नेलिया का पथ निष्कण्टक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राज-माता के लिए यह धर्म-सङ्कट नहीं रहता कि किसके साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती—एक ओर तो मालविका का आत्म-बलिदान और प्रेम, दूसरी ओर कार्नेलिया चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हेलना (जोकि मालविका और कार्नेलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध में इस समस्या को बड़ी सुन्दरता के साथ हल किया है। उन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलायी है। हेलना के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों में कहलाया है "आओ बहिन हम दोनों नदियाँ एक ही सागर में जाकर लीन हो जायँ। सूर्य-किरण और वृष्टि मिल कर मेघ के शरीर में इन्द्रधनुष की रचना करें, काहे का दुख है बहिन, एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।" यह समझौता बड़ा सुन्दर और काव्य पूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है वहाँ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना बहुत सुन्दर नहीं जँचता! अन्त में हम हेलना अथवा कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध में यह अवश्य कहेंगे कि राय की हेलना विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से

चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान देशों में सन्धि स्थापन के लिए। प्रसादजी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

राय महाशय की हेलना विश्व प्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को भूल जाती है, यद्यपि वह पीछे से सुधर जाती है। वह सेल्यूकस की हार पर एक तरह से प्रसन्न होती है। प्रसादजी की कार्नेलिया में यह बात नहीं। उसमें पिता और पुत्री का सम्बन्ध अधिक स्वाभाविकता के साथ निभाया गया है। राय महोदय के सेल्यूकस में स्वदेशाभिमान अधिक है वह हेलना के विवाह के समय राज-दरबार में नहीं जाता। प्रसादजी का सेल्यूकस दरबार में जाता है पर कुछ अनिच्छा से।

प्रसादजी चन्द्रगुप्त के मुख से सेल्यूकस को विजेता कह कर सम्बोधित कराते हैं। इसमें कुछ व्यङ्ग्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है जो ऐसे अवसर पर थोड़ी अनुचित जान पड़ती है।

दोनों ही नाटककारों ने कूट-नीति-विशारद नृशंस-हृदय चाणक्य में कुछ कोमलता के भाव दिखलाये हैं। राय ने चाणक्य की अपनी खोई हुई लड़की के प्रति वात्सल्य का भाव जो नाटक के महत्व को बढ़ा देता है—खूब दिखाया है। प्रसादजी ने सुवासिनी के प्रति चाणक्य के हृदय में कोमलता का स्थान रक्खा है किन्तु वह अपने पथ से विचलित नहीं होता और उसका राक्षस से विवाह कराने में सहायक होता है। प्रसादजी ने राक्षस का चरित्र अच्छा तो नहीं दिखलाया है। वह नीचता करता है पर उसके प्रति चाणक्य का उदार भाव सबको सुधार लेता है। प्रसादजी का राक्षस विलासी अधिक है, राजनीतिक कम है। प्रसादजी ने भी उसकी मुद्रा से काम लिया। राय महोदय ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

दोनों नाटकों के अन्तर का सार हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि कि राय महोदय के नाटक में विश्व-प्रेम की झलक अधिक है और प्रसादजी के नाटक में देश में सङ्गठन और राष्ट्रीयता के भावों की जाग्रत करने की गूँज है। संसार में दोनों भाव आवश्यक हैं! इसलिए दोनों ने ही अपनी-अपनी वाणी से अपने-अपने प्रान्त को अलंकृत किया है और दोनों ही नाटकों से हम पूर्ण मनोरञ्जन कर सकते हैं।



'स्कन्दगुप्त' का नाटकत्व

'प्रसाद' की नाट्य-कृतियों के रचनाकाल को सुविधा के लिए तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला पूर्व-काल (सन् १९१०-१९१५) है जो नाट्य-क्षेत्र में युवक कवि का प्रयास-काल कहा जा सकता है। इस काल में 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'करुणालय' 'प्रायश्चित' तथा 'राज्यश्री' का निर्माण हुआ। एकांकी नाटकों में नाटकीय कौशल का प्रायः अभाव पाया जाता है। 'करुणालय' गीति-नाट्य है जिसमें कथोपकथन को छोड़ नाटकीयता का अन्य कोई विशेष गुण नहीं। इस प्रयास-काल में राज्यश्री नाटकीय दृष्टि से सफल प्रयत्न रहा। वास्तव में इसी नाटक से 'प्रसाद' का रचना-काल प्रारम्भ होता है और उसी में उनकी नाट्य-कला के भविष्य तथा स्थायी रूप का आभास मिलता है। मध्य काल (१९१६-२७), 'प्रसाद' की परिपक्वता का काल है जिसमें 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना' तथा 'जनमेजय' का नागयज्ञ की रचनाएँ आती हैं। इस काल में नाट्य-रचना में उनकी कला का पूर्ण विकास हुआ। ऐतिहासिक-क्षेत्र में उनकी नाट्य-कला को 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नागयज्ञ' में आशातीत वृद्धि मिली। इस काल की नाट्य-कृति 'कामना', 'प्रसाद' की प्रतीक-प्रियता का प्रतीक है। इसी प्रतीक-प्रियता को उत्तरकाल में काव्य-क्षेत्र में 'आँसू' तथा 'कामायिनी' में पूर्ण और अनवरुद्ध विकास मिला क्योंकि इन दोनों कला-कृतियों में जहाँ नाटकीयता का समावेश संभव था वहाँ साथ ही नाटक के प्रतिबन्ध का भी अभाव रहा। उत्तर-काल (१९२७-३५) 'प्रसाद' के नाटक-काल की प्रौढ़ता का काल है। न केवल नाट्य-क्षेत्र में यह साथ ही काव्य-क्षेत्र में भी 'प्रसाद' की महत्वपूर्ण

रचनाओं तथा साहित्यिक-देन का यही काल है। 'स्कन्दगुप्त' 'एक घूँट' 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना इस काल में हुई। इन तीनों कालों पर क्रम से दृष्टि डालने पर 'प्रसाद' की नाट्य-कला तथा कविता-शक्ति से क्रमशः विकास का पता चलता है। प्रयास-काल में गति भेद है जो द्वितीय काल के कुछ भाग तक चलती है। तदनन्तर विकास की तीव्रता के साथ कवि अपनी शक्ति तथा प्रतिभा की चरम सीमा को प्राप्त हो जाता है। कला के विकास के साथ करुणा की विस्तार-सीमा भी परिवर्द्धित होती गई है। प्रयास काल के 'करुणालय' की करुणा को 'अजातशत्रु' में विकास मिला तथा तृतीय काल में 'स्कन्दगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में क्रमशः देवसेना और कामा के चरित्रों में नारी जीवन की करुणा का संचय किया गया है।

'स्कन्दगुप्त' में पाश्चात्य-शैली पर विरोध को प्रधानता दी गई है और नाटक में करुणा का समावेश किया गया है। नाटक के पहले अंक के आरम्भ में हमें नाटक के नायक राजकुमार स्कन्दगुप्त के दर्शन होते हैं जो अधिकारों के प्रति उदासीन दिखाई पड़ता है। उसके द्वारा कहे गये नाटक में प्रारम्भिक प्रथम वाक्य पर ही उसके जीवन की सारी करुणा आधारित है। अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। भारतीय आलोचना की दृष्टि से नाटक की अर्थ-प्रकृति अथवा वस्तु तत्वों पर दृष्टि डालें तो इसी एक वाक्य में नाटक का बीज निहित है, जो स्पष्टतया नाटक के लक्ष्य की ओर संकेत करता है। अन्तिम अंक में स्कन्दगुप्त तथा देवसेना के वार्त्तालाप में स्कन्दगुप्त के निम्न दो वाक्यों में नाटक का लक्ष्य निहित है—'आज मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कुमार जीवन ही व्यतीत करूँगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कण्टक छोड़ जा सकूँगा। ये दोनों बातें (अर्थात् आजीवन कुमार-व्रत धारण करना तथा अन्त में आत्म-बल और प्रयत्न से प्राप्त साम्राज्य से अपने वैमातृ-भ्राता पुरगुप्त के लिए त्याग देना) एक दूसरे

से सम्बद्ध हैं और इन दोनों के मूल में एक ही प्रेरणा है जो त्याग की कामना, अधिकारों के प्रति उदासीनता है। पुरगुप्त (स्कन्दगुप्त का वैमातृ-भ्राता) नाटक का प्रतिनायक है और उसके कुचक्र के पीछे उसकी माता अनन्तदेवी की शक्ति तथा महार्क की कुमन्त्रणाएँ और कुचक्र हैं। साथ ही स्कन्दगुप्त के जीवन की करुणा को पूर्ण वेग से प्रवाहित करने के लिए तथा उसके जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक त्यागमयी नारी की, प्रेमिका की आवश्यकता थी। देवसेना की रहस्यमयी अद्भुत और नारी-सृष्टि के द्वारा 'प्रसाद' ने इस आवश्यकता अथवा कमी की पूर्ति की।

नायक-नायिका के प्रेम, त्याग तथा उनके जीवन की करुणा को लेकर 'प्रसाद' ने नाटक को काव्य के आवरण की मोहकता प्रदान की तथा साथ हो इसी की वृद्धि के लिए न केवल नायिका (देवसेना) के चरित्र में काव्य के एक मुख्य तत्त्व संगीत के प्रेम का समावेश किया, किन्तु नाटक में मातृगुप्त (कवि कालिदास) के चरित्र की सृष्टि की। इस चरित्र के निर्माण में नाटककार को मानव अन्तस्तल की गहराई में बैठने का अवसर प्राप्त हुआ। मातृगुप्त न केवल भावुक प्रतिभावान् कवि है किन्तु साथ ही अनुरागमय जीवन की पूर्व मादक स्मृतियों तथा पुनर्मिलन-सुख की अभिलाषा ने उसे एक अतीन्द्रिय लोक का व्यक्ति बना दिया है, जो कल्पना-लोक में विचरण करने का आकांक्षी है। अतएव इस पात्र के साधारण कथन भी काव्य का अनूठा-पन लिए हुए हैं और नाटक में कविता-रस-स्रोत का प्रवाह करने वाले हैं। इस प्रकार कथा-वस्तु तथा विरोध के विकास के साथ नाटक के प्रसिद्ध चरित्रों का विकास हुआ है। स्कन्दगुप्त का चरित्र विभिन्न गुणों से आभूषित, स्वाभाविक दुर्बलताओं सहित तथा व्यक्तिगत विचित्रताओं से समन्वित और गुण-अवगुणों के ताने-बाने से बुना हुआ है। वीरत्व, पर दुःख-कातरता, शरणागत-रक्षा, त्याग, वचन पालन-क्षमता आदि गुणों से युक्त, राजकीय अधिकारों के प्रति उदासीनता और विराग

आदि दुर्बलताओं सहित तथा अपूर्व त्याग, क्षमा और करुणा इत्यादि असाधारण विशेषताओं से परिपूर्ण स्कन्दगुप्त का चरित्र चरित्रों-त्कर्ष के साथ मानवी दुर्बलताओं (Human Frailties) को लिए हुए है और मेरे मत में इस दृष्टि से यह चरित्र तथा 'प्रसाद' की अन्य चरित्र सृष्टियाँ पूर्ण मानव हैं, न कि इसलिए कि उनमें देवोचित गुणों का समावेश या आरोपण किया गया है। देवसेना के चरित्र से, जिसका जीवन आरम्भ में एक निरीह राजकुमारी और अन्त में एक त्याग-पूर्ण करुणामय कुमारी से अधिक कुछ भी नहीं है, नाटक की सुन्दरता में चार चाँद लग गये हैं। वह प्रेम, त्याग तथा वेदना की कोमल आकार सुन्दर मूर्ति है जिसके हृदय की विशालता, मन की उदासता तथा जीवन की निस्वार्थता ही उसके जीवन की करुणा (Tragedy) के लिए उत्तरदायी है। यह उच्च भावना उसे अपने इस जीवन के देवता और उस जीवन के प्राप्य स्कन्द के प्रणय की उपलब्धि होने पर भी उसे ग्रहण नहीं करने देती। प्रथम स्कन्द को विजया की ओर आकृष्ट देख (जब कि भटार्क को आत्म-समर्पण करने का संकल्प कर चुकी थी) देवसेना ने विजया को 'हारकर भी जीती हुई' समझा था। अन्त में देवसेना अपने हृदय की अभिलाषित वस्तु को, अपने इस जीवन के देवता तथा उस जीवन के प्राप्य स्कन्द को स्वेच्छा से अस्वीकृत करने पर (केवल यह दर्शाने के लिए कि वह मानव के उत्सर्ग का प्रतिदान नहीं लेना चाहती) मेरे विचार में जीतने पर भी हार जाती है और इसी हार को उसने अपने अन्तिम विदा के गान में 'होड़ीहोड़' कहा है। उसका मन उसके निश्चय के प्रति तीव्र विरोध करता है और उसका हृदय डाँवाडोल दिखाई पड़ता है। एक नारी के जीवन में इससे बड़ी ट्रेजेडी और क्या हो सकती है? विजयादेवी नहीं, नारी-चरित्र की समस्त दुर्बलताओं को लिए दुःख सुख भोगिनी नारी है, जिसके चरित्र का क्रमशः अधोपतन तथा लक्ष्य की विफलता ही उसके जीवन-नाटक की कहानी है, जिसका जीवन परिस्थितियों के साथ

सतत खेलवाड़ है। उसके चरित्र में नारी-सुलभ कोमलता है, पर साथ ही एक निर्मूल आशङ्का उसे विजयगामिनी बना देती है। उसकी प्रतिहिंसा-वृत्ति के जागने के साथ उसका—चरित्र उत्तरोत्तर अपकर्ष को प्राप्त होता है। उसकी हिंसा—वृत्ति बड़ा ही भयङ्कर रूप धारण करती है, और प्रतिशोध ज्वाला युक्त उसका प्रबल रूप बड़ा हो जाता है। उसके चरित्र की दुर्बलता उसके दुर्बल रमणी-हृदय पर आधारित है—'थोड़ी आँच में गरम और शीतल हाथ फेरते ही ठण्डा। देवकी के चरित्र में सच्चे स्त्रीत्व तथा मातृत्व की कल्पना तथा अनन्तदेवी के चरित्र में समन्वय ज्वाला तथा विमाता की कपट भावना का समावेश पाया जाता है। पटरानी देवकी के साथ कुचक्र करने के अपराध के पश्चात् जब वह इस पाप कृत्य के लिये अपने सौतेले पुत्र से उसके 'पिता की पत्नी' होने के सम्बन्ध के बल पर क्षमा-याचना करती है, तब इस सम्बन्ध में व्यभिचार की ओर जितना संकेत मिलता है उतना मातृत्व का ओर नहीं। जयमाला में नारी-सुलभ नैसर्गिक स्वार्थ-भावना तथा उसके पश्चात् उस स्वार्थ पर विजय के साथ स्त्रीत्व का उत्कर्ष बतलाया गया है। पुरगुप्त के चरित्र में वैमातृ भाई का सारा डाह, विरोध, क्रोध, कलह तथा समान भाव और चेष्टाएँ पाई जाती हैं। सर्वनाम के चरित्र में परीक्षा तथा उसमें असफलता तथा फिर उत्थान का दिग्दर्शन कराया गया है। और भटार्क के चरित्र में मानव का अधःपतन और बार-बार उठ कर गिरना दिखाया गया है। कुमारगुप्त के जीवन में विलास तथा व्यभिचार तथा बहु-विवाह के दुष्परिणाम बताये गये हैं। बन्धुवर्मा के देश के लिये सर्वस्व त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। मुद्गल में पारस्परिक विदूषक के पेटूपन तथा परिहास की पूर्ण झलक मिलती है।

विभिन्न परिस्थितियों तथा मानव-जीवन के विभिन्न चरित्रों के विकास के साथ कथा-वस्तु का चमत्कार-पूर्ण विकास कराया गया है। वस्तुगत यह चमत्कार दो प्रकार से लाया गया है और नाटकीय कला-

कुशलता की दोनों प्रयोगों में अत्यन्त आवश्यकता है। प्रथम प्रयोग में मनोवैज्ञानिक चरित्रांक का आश्रय लिया गया है। तथा द्वितीय में प्रासंगिक वस्तु के अन्तर्गत चमत्कार लाये गये हैं। विजया के चरित्र के साथ वस्तु का विकास दिखलाकर मैं प्रथम प्रयोग का स्पष्टीकरण करूँगा। विजया श्रेष्ठ-कन्या है। जहाँ मूल रूप में वह एक कोमल युवती है जिसे युद्ध, हिंसा, क्रूर-कार्य, सैनिकों इत्यादि से घृणा है, वहाँ विभव का प्रेम तथा मोह भी है। इस मूल भावना के वशीभूत होकर वह जीवन के प्रधान प्रश्नों को विभव के प्रकाश में देखा करती है। विवाह के सम्बन्ध में अपने आत्मसमर्पण में भी यही भावना एक शक्तिवती प्रेरणा है। देवसेना के सम्बन्ध में भ्रम में भी यही भावना है। वह अपने इस विचार पर विजय पाने में असमर्थ है कि देवसेना मूल्य देकर प्रणय लेना चाहती है। विजया संसार की प्रत्येक वस्तु को, हृदय को भी, धन से तौलना चाहती है। भ्रम के वशीभूत हो तथा 'दूसरो को नीचा दिखाने के लिए' अपना सर्वस्व—रूप, यौवन तथा विभव भटार्क को अर्पित करती है, अथवा दूसरों को विभव अर्पित कर वह अपने जी की ज्वाला को शान्त करना चाहती है। विभव की इस सीमा के बाहर निकलना उसके लिए असम्भव है। सम्पूर्ण जीवन में वह सब बातों को विभव के अनुसार महत्त्व देती है, यहाँ तक कि उन्माद की अवस्था में तीव्र विरोध तथा तज्जनित घोर निराशा के अवसर पर वह अपने नारी जीवन पर विचार करती हुई कहती है—'अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ कहाँ? किधर—?' चरित्रगत चमत्कार इसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक विकास के कारण आ सका है। इसी प्रकार का अध्ययन अन्य चरित्रों के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। द्वितीय प्रयोग में पताका तथा अनेक प्रकरियों का योग है। इस प्रकार के चमत्कार के उदाहरण-स्वरूप शर्वनाग तथा उसकी स्त्री का निम्न कथन लें—

शर्वनाग—कादम्ब! ओह प्यास! लाल यह क्या रक्त! अरेरे

नहीं, दुर्बल नारी। उँह, यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, देख—सामने सोने का संसार खड़ा है।

(रामा का प्रवेश) रामा—गमर ! सोने की लंका राख हो गई। अर्थ—प्रकृति के सम्बन्ध में पहली, चौथी और पाँचवो अर्थ—प्रकृति अर्थात् बीज लक्ष्य तथा प्रकरो का उल्लेख प्रसंगवश हो चुका है। द्वितीय अर्थ—प्रकृति बिन्दु के सम्बन्ध में मेरे मत के अनुसार विजया में भ्रम की उत्पत्ति ही बिंदु है जिसने अधिकारिक कथा-वस्तु को अविछिन्न रक्खा। इस भ्रम के कारण से न केवल विजया के चरित्र का विकास हुआ है किन्तु सारी कथा आगे बढ़ गई है। वधु-वर्मा की प्रसंग पताका उदाहरण है। यह पताका नाटक के अंत तक चलती है। वधुवर्मा को मृत्यु के पश्चात् देवसेना धरोहर रूप में स्कंद को सौंपी जाती है अथवा यों कहें कि उसका रक्षा-भार उसी के इच्छानुसार स्कंदगुप्त पर पड़ता है। और इस प्रकार अंत तक इस पताका का फैलाव पाया जाता है।

वस्तु की बहुलता के कारण नाटकीय किन्तु अस्वाभाविक आकस्मिक घटनाओं का समावेश किया गया है, उदाहरणार्थ देवकी के विरुद्ध षड़यन्त्र में देवकी के बचाने के लिए ठीक समय पर स्कन्द का किवाड़ तोड़ कर भीतर घुस पड़ना, देवसेना के प्रति किये गये प्रपञ्च-बुद्धि के कुचक्र में मातृगुप्त का भाग्यवंश वहीं टपक पड़ना और देवसेना को मुक्त करना (इतिहास में स्कन्दगुप्त द्वारा मातृगुप्त को काश्मीर—दान देने का विवेचन है) तथा पर्णदत्त द्वारा हूणों से देवसेना की मुक्ति साथ ही अनेक व्यक्तियों की हत्या और मृत्यु से कई पात्रों से पिण्ड छुड़ाया गया है। देवकी की मृत्यु की घटना की स्वाभाविकता की रक्षा तो भाषा के ओज-गुण ने करदी है। घोर युद्ध के समय शोकाकुल माता देवकी के प्रवंचक और कृतघ्न भटार्क से अपने प्राण-तुल्य पुत्र स्कन्दगुप्त का पता पूछने पर जब उसे यह समाधान विहीन

भयंकर उत्तर प्राप्त होता है—'क्या कहूँ, कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो, हिमवान की गल जाने वाली वर्फों से पूछो कि वह कहाँ है ? मैं नहीं.... तो यद्यपि स्कन्द की मृत्यु की घटना निराधार थी तथापि भटार्क के विष वाक्य की प्रभावशालिता, हृदय-विदारक, शक्ति तथा मर्माहत करने की क्षमता सविष शल्य की भाँति प्राणघातिनी सिद्ध होती है और देवकी की मृत्यु अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। ऐसे नाजुक स्थल पर भाषा की दुर्बलता देवकी की मृत्यु घटना को अस्वाभाविक तो क्या हास्यास्पद बना देती। वस्तु-बाहुल्य एक अन्य बड़े दोष के लिए उत्तरदायी है। बातचीत के रूप में कथा कहलाई गई है जब कि रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन आवश्यक है। यह कथा की नीरसता के कारण नहीं, कहने की शीघ्रता के कारण हुआ है। यह दोष प्रसाद के बड़े नाटकों में सर्वथा पाया जाता है, उदाहरणार्थ 'स्कन्दगुप्त' के पञ्चम-अङ्क का प्रारम्भिक भाग।

भाषा का प्रयोग स्थलों के अनुरूप पाया जाता है और इसी दृष्टि से उसमें ओजमाधुर्य तथा प्रसाद गुण का समावेश भी किया गया है। युद्ध तथा उसमें सम्बद्ध प्रसङ्गों में 'स्कन्दगुप्त' चक्रपालित, बन्धुवर्मा भीमवर्मा, आदि के वचनों में ओज गुण है, कोमल प्रसङ्गों में, मातृगुप्त, देवसेना, विजया इत्यादि के बचनों में तथा इनके गीतों में माधुर्य गुण और कुछ स्थलों में उदाहरणार्थ—हास्य-परिहास इत्यादि के दृश्यों में प्रसाद-गुण पाया जाता है। विदूषक के हास्य में परम्परागत-विशेषतायें मिलती हैं, नवीनताएँ नहीं पाई जाती हैं। विदूषकों में पेटूपन, मूर्खता-परिचय इत्यादि के वर्णन से हमारा संस्कृत-साहित्य भरा हुआ है। प्रथम अङ्क में गठरी के प्रसङ्ग से हास्य का प्रयत्न कोई विशेष स्तुत्य प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। प्रथम अङ्क में धातुसेन और कुमारगुप्त के वार्तालाप में तथा द्वितीय अङ्क में धातुसेन और मुन्दल के वार्तालाप में उच्चकोटि के परिहास का परिचय मिलता है। ऐतिहासिक काल के वातावरण की सृष्टि में भाषा का विशेष हाथ रहता है। नाटककार ने

तत्सम शब्दों की सहायता से अपने कार्य को सुगम बनाया है और शब्दों का निर्माण भी आवश्यकतानुसार किया है। आवश्यकतानुसार ओज, माधुर्य्य और प्रसाद गुण के समावेश के होते हुए भी भाषा के एक सम आदर्श का निर्वाह नाटक में कराया गया है और इसलिए एक आलोचक 'प्रसाद' में प्रसाद-गुण की कमी पा सकता है। 'प्रसाद' की भाषा की व्यापकता में भी एक प्रकार सा संकोच है, उदाहरणार्थ मुहावरेदार और चलती हुई भाषा का अभाव। मुहावरों का प्रयोग बहुत ही विरल हुआ है। इनमें से कुछ के प्रयोग ने नाटकीय कथनोपकथन की सुन्दरता में बहुत वृद्धि की है। उदाहरणार्थ—गुप्त-काल के शासक इस साम्राज्य को गले पड़ी वस्तु समझने लगे हैं।" मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ। एक दो स्थलों पर मुहावरों का प्रयोग सदोष और खटकने वाला है। उदाहरणार्थ 'प्रत्येक भित्ति के किवाड़ों के कान होते हैं' कहकर तो मुहावरे बेचारे की टाँग ही तोड़ दी गई। यह लँगड़ा मुहावरा भाषा को मलहम पट्टी करने तथा सफाई (Polish) करने पर भी निर्बलता के कारण शोभा नहीं देता प्रत्युत कर्ण-कर्कश और माधुर्य्य-विहीन जान पड़ता है। यहाँ तो सीधा-सादा प्रचलित मुहावरा ही उपयुक्त होगा, यथा दीवालों के भी कान होते हैं। भाव-प्रवणता और भावोन्माद गीतों में तो है ही मातृगुप्त, देवसेना प्रभृति चरित्रों के कथनों में भी प्रचुरता से है। भाषा में इनकी व्यञ्जना गद्य-काव्य की सरसता लिए हुए है।

'प्रसाद' के नाटकों के गीतों के सम्बन्ध में यह धारणा है कि वे स्वतन्त्र गीति काव्य की कोटि में आते हैं अर्थात् वे अनुपयुक्त हैं, नाटकीय नहीं। मेरे मत में सब गीतों के विषय में यह आक्षेप नहीं किया जा सकता। कुछ गीत तो प्रसङ्ग के बहुत ही अनुकूल तथा सामयिक हैं। उदाहरणार्थ देवसेना का 'माझी! साहस है खेलोगे?' गीत को लें। देवसेना के हृदय में स्कन्दगुप्त को लेकर प्रेम का एक

बड़ा ही उत्कृष्ट और तीव्र द्वन्द्व चल रहा है, किन्तु वह इस विरोध को वेदना की तह में दबाना चाहती है। उसको जीवन-नौका में सचमुच दुर्वह बोझ हो गया। वह अपने जीवन के नाविक से प्रश्न करती है कि क्या उसके जीवन की नौका को; 'पथिक—भरी', 'जर्जर तरी' को 'उफन कर बहने वाली नदी', 'तुमुल तरंग', 'प्रचंड पवन' और भयानक वर्षा में खे सकेगा। देवसेना की यथार्थ दशा को कितना भावमय-रूपक प्रदान किया गया है। वह सोने में जड़े गये हीरे की भाँति कितना अनुकूल है। कहीं-कहीं भावोन्माद ने गीतों को प्रसंगानुकूल बना दिया है। इस सम्बन्ध में अन्तिम अंक के विजया के निम्न गान का उदाहरण दिया जा सकता है—'अगरू धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से' इत्यादि। विजया का यह मादक गीत पाठकों में भी उन्माद ला देने के लिए, उन्हें पागल बना देने के लिए पर्याप्त है। विलास, आकांक्षा तथा उन्माद का जो प्रसङ्ग उसके चरित्र में (स्कंद तथा उसके वार्तालाप) में चरम सीमा को पहुँचाया गया है उसकी परिणति इस गान में हुई है। मेरे मत में नाटक के अन्त के देवसेना की हृदय-विदारक विदाई के गान को प्रसंग के अनुपयुक्त कहने का दुस्साहस हमें न करना चाहिये। भाव व्यंजना के सम्बन्ध में तो किसी को भी संदेह नहीं है। करुण गीत का आरंभ ही वेदना के निःश्वास (श्वास से नहीं उच्छ्वास में आवेग होता है, यहाँ उत्कट निराशा है) से—'आह से—होता है, जहाँ शब्द निरर्थक हो जाते हैं और कंठ रुँध जाता है। कितना उपयुक्त है यह आरंभ! वेदना की अनुभूति से पूर्ण, शोकाभिभूत हृदय की इस एक 'आह' ने जो भावाभिव्यंजना की है वह बहुत से शब्दों के प्रयोग से व्यक्त न हो पाती वह है—'आह', कण्ठावरोध तथा सच्चे कारुण्य का महत्त्व, अन्यथा हिन्दी-साहित्य में रीति कालीन साहित्य की विरहिणियों की हाय हाय क्या कम है? अंतर्वेदना के कारण देवसेना के हृदय में वह रहकर चूक की सी हूक उठती है जो उसे बिलकुल विकल किये हुए है भाव-विदग्धता, शब्दों

की कोमलता और संगीत के योग से तो कहीं-कहीं भावों की ऐसी व्यंजना की गई है कि ऐसे स्थानों पर प्रसंगानुकूलता तो हमें प्रभावित नहीं करती, काव्य-कला अवश्य चमत्कृत करती है।

उदाहरणार्थ—

उमड़ चली भिगोने आज, तुम्हारा निश्चल आँचल छोर।
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल, देखने तू फिर कर इस ओर॥—

इस गीत में भावों की मार्मिक व्यंजना इस गान को प्रसंगानुकूल बना रही है। यह गान विजया के 'विकल मनोरथ' को बड़ी सफलता से व्यक्त कर रहा है। तीसरी पंक्ति का छोटा सा शब्द 'रे' गान की जान के सदृश है जो न केवल कराह का व्यञ्जक है पर साथ ही आग्रह और अनुग्रह की भावना को लिए हुए है।

स्वाभाविकता की रक्षा में नाटककार ने अपने नाटकों में स्वगत कथन का उपयोग कम ही किया है। लम्बे स्वगत कथन (Aside) अस्वाभाविक इसलिए जान पड़ते हैं कि रङ्गमञ्च पर पास खड़े पात्र तो यह कथन सुनते नहीं (ऐसा नाट्य करते हैं जैसे न सुन रहे हों) पर सामाजिक सुन लेते हैं (उन्हें सुनना अभीष्ट है) और पात्र-विशेष के मन की गुप्त भावनाएँ उन्हें विदित हो जाती हैं। अतएव सर्वप्राप्य वस्तु के समान स्वाभाविक न होने के कारण) इस प्रकार के स्थानों का अधिक प्रयोग अवांछनीय है। विशाख के महापिंगल के मुख्य नाटककार ने राजा की बुद्धि तथा उसके न्याय पर व्यंग करते हुए आश्रय वस्तु का अनिवार्य अनैसर्गिकता तथा हीनता की ओर इङ्गित किया है—"जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं वह दर्शक-समाज वा रङ्गमञ्च सुन लेता है पर पास का खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुने सकता, उनको भरत बाबा की शपथ है, उसी तरह राजा की बुद्धि, देश भर का न्याय करती है पर राजा को न्याय नहीं सिखा सकती। 'स्कन्दगुप्त' में 'प्रसाद'जी ने स्वगत के सम्बन्ध में विशेष कौशल से काम लिया है। अन्य सब पात्रों के निष्क्रान्त के अनन्तर एक पात्र भावावेश अथवा

उन्माद की अवस्था में स्वगत कथन (ऐसे काव्यमय स्वगत कथन को अँगरेजी में सालिलाँकी (Soliloquy) कहते हैं जिससे दर्शक उसके हार्दिक भावों से परिचित हो जाते हैं या उसके मानसिक विरोध को पहचान लेते हैं। उदाहरणार्थ 'स्कन्दगुप्त' के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भिक दृश्य में असहाय, निराश, निष्प्रभ और विक्षिप्ता विजया का निम्न कथन सब पात्रों के निष्क्रान्त के पश्चात् कराया गया है अतः अस्वाभाविक नहीं। ऐसे स्थानों पर पात्र विशेष के मनोगत भावों को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त नाटककार जीवन की व्याख्या कर नाटक के उद्देश्य की पूर्ति करता है, रंगमंच की बाधा की बेड़ियाँ थोड़ी देर के लिए खुल जाती हैं और वह स्वतन्त्रता से जीवन के प्रति अपने विचारों को स्थान दे सकता है। इस अवसर पर विजया से निम्न स्वगत कथन कराकर प्रसाद ने उसकी भीतरी दशा तो चित्रित कर ही दी, साथ ही साथ नारी जीवन की व्याख्या भी करने का मत किया है 'मैं कहीं की न रही। इधर भयानक दिशाओं की लीला भूमि उधर गंभीर समुद्र। दुर्बल रमणी हृदय थोड़ी आँच में गरम और शीतल हाथ फेरते ही ठण्डा। क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर किया उगल देना। जिनको क्षमा की आवश्यकता है जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है उनके मूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति.......। अन्य स्थलों पर अन्य पात्रों की अनुपस्थिति में छोटे स्वगत कथनों का प्रयोग किया गया है जिनमें जीवन को आलोचना के लिए स्थान नहीं, पात्र विशेष के भावों से अवगत कराना ही जिनका ध्येय है। उदाहरणार्थ श्मशान में देवसेना को (जो कुछ पहले उसकी प्रिय सखी थी) बलि के लिए ले जाते समय विजया का निम्न स्वगत कथन उसके मन के विरोध को प्रगट कर रहा है मान-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरङ्गी सी कुमारी.......आह! कैसा भोला मुखड़ा है। नहीं-नहीं विजया। सावधान। प्रतिहिंसा....। देवसेना के निम्न छोटे से स्वगत कथन से उसका प्रच्छन्न भाव (स्कन्दगुप्त के प्रति

उसका राग) प्रकट किया गया है जब कि तत्काल वास्तव में स्कन्दगुप्त विजया पर आसक्त था—'आह ! जिसकी मुझे आशंका थी, वह है। विजया ! आज तू हार कर भी जीत गई।'

अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग नाटककार के द्वारा किया गया है पर विष्कम्भक, प्रवेशक इत्यादि नामों का लोप कर दिया गया है। सूच्य वस्तु में ऐसी बातें सम्मिलित होती हैं जिनके दिखाने में बखेड़े हों, जैसे रथ दौड़ाना, जिनका अभिनय शिष्टाचार के विरुद्ध हो जैसे बच्चे का जन्मस्थान, आलिंगन इत्यादि बनाना, अथवा जो इतनी महत्वपूर्ण न हों कि प्रदर्शन किया जाय (नीरस हों)। प्रस्तुत नाटक में दृश्यों के असङ्गत निम्नकोटि व मध्यम कोटि के पात्रों द्वारा वार्तालाप कराकर अर्थोपक्षेपकों का काम उठाया गया है। साथ ही युद्ध, नदी-प्रवाह आदि ऐसी बातें मञ्च पर दिखाई गई हैं जिनके दिखाने में बखेड़े हैं। ये बातें सवाक पट पर जहाँ सफलता पूर्वक दिखाई जा सकती हैं, नाटक में बाधा उपस्थित करेंगी। शिष्टाचार के विरुद्ध बातों तथा नीरस बातों का तो प्रदर्शन कहीं-कहीं कराया गया है। चूलिका के प्रयोग में नाटककार का कोई विशेष कौशल दृष्टिगत नहीं होता। वातावरण का सहयोग प्राप्त करने के लिए बहुधा नेपथ्य से गाये गीतों का सीधा उपयोग नाटक में हुआ है पर ऐसे नेपथ्य के कथनों में कोई विशेष सूक्ष्म व्यञ्जना नहीं पाई जाती। इस सम्बन्ध में कालिदास के कौशल का एक उदाहरण समीचीन होगा। 'अभिज्ञान-शकुन्तला' के पाँचवें अंक के आरम्भ में नेपथ्य से गाये हुए गान से दुष्यन्त के स्मृति-प्रणय की ध्वनि निकलती है। यद्यपि हंसपदिका रानी दुष्यन्त का स्नेही वसुमती में देखकर उसकी प्रेम-विस्मृत्ति का उपालम्भ देती है तथापि कवि ने कुशलता से इसी स्मृति-प्रणाश की सूचना दी है जब कि पूर्व-प्रणयिनी शकुन्तला से दुष्यन्त का साक्षात्कार देने वाला है।

नाटक में वस्तु के क्रमशः विकास के साथ चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व का जो प्रदर्शन किया गया है उससे नाटक के कतिपय सुन्दरतम दृश्यों

की सृष्टि हुई है। ऐसे ही दृश्यों को नाटक की सफलता का अधिक श्रेय है। ऐसे दृश्यों में पहला दृश्य तृतीय अङ्क का चतुर्थ दृश्य है। देवसेना के चरित्र के निम्न दो पार्श्वों पर उसके चरित्र का द्वन्द्व अवलम्बित है, जयमाला के शब्दों में 'जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है। देवसेना के चरित्र करुणा (Melancholy) आरोपित नहीं स्वाभाविक और शाश्वत है। संगीत के द्वारा यह प्रस्फुटित होती है और उसके चरित्र में जो विनोद दीखता है वह यथार्थ में केवल एक बाह्य आवरण है जिसके नीचे गम्भीर वेदना छिपी हुई है। ऐसे दुर्बोध (Complex) चरित्र में प्रणय-भावना ने विरोध आरम्भ किया है जिससे देवसेना का जीवन ऐसा विवेक ग्रस्त हो गया है जैसे झगड़ालू कुटुम्ब में एक व्यक्ति का आत्म-निग्रह से वास करना अथवा समुद्र की तथा प्रकृति की सारी बाधाओं में एक जीर्ण तरी की सो जल यात्रा। दूसरा सुन्दर दृश्य चतुर्थ अङ्क के प्रथम दृश्य का है जिसमें विजया के सम्पूर्ण चरित्र का उद्घाटन (Exposition) पाया जाता है जो अध्ययन के योग्य सामग्री है। इस दृश्य में नारी चरित्र की कुसुमादपि कोमलता, सुकुमारता और मृदुना प्रणय वञ्चिता स्त्री की भयानकता, वज्रादपिकठोरता तथा प्रलयङ्कर-क्रोध-ज्वाला पाई जाती है। इसके अतिरिक्त मूल रूप में विजया के चरित्र की वास्तविकता, सचाई, आत्म-निष्ठा (Sincerety) और सख्य-भाव का आभास मिलता है तथा पञ्चम अङ्क में उसके प्रणय-प्रसङ्ग तथा स्वयं आत्मसमर्पण का दृश्य एक स्त्री की मानसिक अधोगति का परिचायक है। विजया के चरित्रोद्घाटन के पूर्णकथित दृश्य (चतुर्थ अंक आरम्भिक दृश्य) में पदच्युत नायक (शर्वनाग) के साथ उसके प्रारम्भिक वार्तालाप के इस भाग में—'दूर हारे मुझे सैनिकों से घृणा है'—उसका मूल चरित्र पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि कठोरता के प्रतीक तलवार, छुरी तथा सैनिकों से उसे अरुचि ही नहीं घृणा है। तत्पश्चात् जीवन के

प्रथम परिवर्तन में वह भ्रमवंश स्कन्दगुप्त से विद्रोह कर भटार्क को अपनाकर उसके लोह-हृदय को वशीभूत करना चाहती है। इस समय उसे इस छोटे से कथन में—मैं भी कुछ हूँ'—उसके चरित्र का कथित परिवर्तन निहित है। द्वितीय परिवर्तन आत्मज्ञान की प्राप्ति पर तथा पश्चाताप पर अवलम्बित है। इसका आधार है उसका यह छोटा-सा कथन—'मैं अनाथ निस्सहाय हूँ। इस स्थिति का मूल कारण शेक्सपियर के शब्दों में उसमें पुरुष का हृदय तथा नारी का बल (man's heart but a woman's strenght) होना है (Portia julius Caeser) चरित्रगत कथित परिवर्तन से विजया को देश-सेवा की प्रेरणा भी होती है। जिसके अभाग्यवश अस्थायी प्रमाणित होने से अन्त में उसका मानसिक पतन अवश्यम्भावी सिद्ध हो जाता है।

कामना

प्रसादजी के नाटक में 'कामना' का वही स्थान है, जो 'आकाश-दीप' का उनकी कहानियों में। उनकी रचनाओं का विशेष गुण काव्यमय भाषा और सुकुमार कल्पना है। 'कामना' में भावों और भाषा का अद्भुत सामञ्जस्य है। सीधी भाषा लिखने में वे असमर्थ-से थे। यह बात उनके पहले उपन्यास 'काल' में काफी खटकती थी। 'तितली' में उनकी भाषा में स्वाभाविकता और कथा-विकास में प्रौढ़ता थी। यदि वे जीवित रहते, तो शायद उनका अगला उपन्यास हिन्दी के लिए गर्व की वस्तु होता। उनके नाटकों, कहानियों और उपन्यासों से, यह स्पष्ट झलकता था कि कोई कवि अपने जग से भटक कर विचित्र देश में जा पहुँचा है, किन्तु वहाँ भी अपने प्रतिभा के कारण सम्मानित है। 'आकाश-दीप' और 'कामना' में उनकी कल्पना को अपनी रुचि के अनुकूल विषय मिल गए। यहाँ इतिहास का भी थोड़ा-सा पुट है, जिसके बिना वे असन्तुष्ट रहते थे।

'कामना' रूपक-बद्ध है। फूलों के द्वीप में तारा की सन्तान, युगों से बसती आई थी। वहाँ सुख, सन्तोष और शान्ति का राज्य था। किन्तु विशाल जलराशि के उस पार से आकर विलास ने यहाँ नई सभ्यता का प्रचार किया। सुवर्ण और मदिरा के प्रलोभन से उसने कामना, लीला और विनोद को अपना लिया। फिर उस फूलों के द्वीप में अनाचार और अत्याचार फैल गए, और वहाँ का जीवन नरक के समान हो गया।

विज्ञान की दृष्टि से यह विचार गलत हो सकता है। किन्तु कवि-कल्पना ने सदैव ही अतीत को सुवर्ण-रूप में देखा है। मनुष्य आदिम युग में सुखी था। सभ्यता ने उसकी शान्ति नष्ट कर दी। विकासवादी कहेंगे कि मनुष्य ने निरन्तर उत्तरोत्तर उन्नति की है।

तारा की सन्तान का इतिहास बड़ा सुन्दर है "जब विलोड़ित जल-राशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय वे शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गए।" खेल के लिए इन्हें फूलों के द्वीप भेजा गया है। खेल समाप्त कर थकी हुई तारा की सन्तान चन्द्रमा के शीतल पथ से वापस चली जाती है।

इस द्वीप में पुरातन का समाजवाद है। स्त्रियाँ कपास ओटतीं, सूत काततीं और जल भरती हैं। पुरुष खेत जोतते और अन्न उपजाते हैं। इसी से सार्वजनिक जीवन चलता है। इस भोली जाति में विलास ने सभ्यता, सुवर्ण और मदिरा लाकर खलबली मचा दी।

रूपक-बद्ध नाटकों में सफल चरित्र-चित्रण असम्भव-सा होता है पात्रों में व्यक्तित्व के स्थान पर विचार-जाल रहता है। फिर भी 'कामना' के पात्रों में अपना व्यक्तित्व और विशेषता प्रचुर मात्रा में है।

अभिनय की दृष्टि से शायद पात्रों की संख्या कुछ अधिक हो। नए अङ्क और दृश्यों में निरन्तर नए-नए पात्र लाए गए हैं। आदि से अन्त तक कुछ ही पात्र हमारे सामने रहे हैं। इनमें प्रमुख, कामना, विलास-लीला, विनोद, लालसा, सन्तोष और विवेक हैं।

विलास का चित्रण सुन्दर हुआ है। उसके प्रति आकर्षण और मोह-सा होता है। स्वर्ण-पट्ट पहने समुद्र के पार से बाँसुरी बजाता हुआ यह सुन्दर युवक फूलों के द्वीप आया। क्या आश्चर्य, यदि कामना ने उसे आत्म-समर्पण कर दिया ! एक-एक कर लीला, विनोद, लालसा, उसके वश में हो जाते हैं।

बुड्ढा विवेक और सन्तोष—केवल यह दो उसके जादू से बचे। विवेक का चित्रण भी सफल हुआ है। विलास का खेल बिगड़ने बार-बार वह पागल की भाँति ठीक मौके पर जा पहुँचता है।

प्रसादजी के नाटकों का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी काव्य-प्रेरणा है। आपके गीत बेहद मीठे और भावमय होते हैं। 'कामना' में भी अनेक गाने इस कोटि के हैं। सबसे सुन्दर गीत कामना का है—

"सघन वन-बल्लरियों के नीचे,
उषा और सन्ध्या-किरनों ने तार बीन के खींचे।
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे।
स्फुट हो उठो मूक कविता फिर कितनों ने दृग मींचे॥
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे।
मानस-तरी भरी करुना-जल होती ऊपर-नीचे॥"

फूलों के द्वीप में प्रभात का वर्णन, जिससे नाटक का आरम्भ हुआ है, पढ़ने में तो मधुर है—

"ऊषा के अङ्क में जागरण की लाली है। दक्षिण-पवन शुभ्र मेघमाला का अञ्चल हटाने लगा। पृथ्वी के प्रांगण में प्रभात टहल रहा है। विशाल जलराशि के शीतल अङ्क से लिपटकर आया हुआ पवन इस द्वीप के निवासियों को कोई दूसरा सन्देश नहीं, केवल शान्ति का निरन्तर सङ्गीत सुनाया करता।"

किसी उच्चकोटि के अभिनेता से ही रङ्गभूमि में ऐसी भाषा अच्छी लगेगी।

नाटक सुखान्त है। इस देश में सुखान्त नाटक लिखे ही नहीं जाते थे। प्रसादजी उसी लीक पर चले। विलास के अत्याचार से पीड़ित द्वीप-वासियों ने उसे निकाल बाहर किया। किन्तु क्या स्वर्ण और मदिरा का स्वाद वे एकदम भूल गये? क्या काल-चक्र को कोई उल्टा भी फेर सकता है?

'कामना' कवि के हृदय की व्यथित पुकार है। सभ्यता के जाल में फँसी वह जीवन की अतीत स्वतन्त्रता और सादगी के लिए विकल है। किन्तु अब इस दुःस्वप्न से हम जाग नहीं सकते। 'कामना' में सङ्गीत है, विचार गम्भीरता है, सफल चरित्र-चित्रण है। भाषा में माधुरी और कल्पना में कोमलता है। 'कामना' का स्थान प्रसाद-साहित्य में और भी ऊँचा होना चाहिये।

———

प्रसादजी के गीत

संगीत संसार की दवा है। विश्व की वेदना के लिए, संसार के झंझटों के लिए, स्वयं जीवन की परिस्थितियों की, भाग्य की, विडम्बना के लिए एक मात्र अचूक औषधि है गीत। गीत की तन्मयता में, उसकी काल्पनिक सुधा-माधुरी में, लय के उतार-चढ़ाव

सत्यता में मनुष्य का सारा राग-द्वेष, दुःदैन्य, उसकी असफलता, विकलता, विह्लता बह जाती है। उस समय प्रत्यक्ष की कठोरता पर कल्पना का आवरण पड़ जाता है, उस राग धारा के प्रवाह में स्वयं दुःख अपनी कसक खोकर मधुमय हो जाता है। गीत में वह अलौकिक आह्लाद मिलता है जो सुख को सुखातिरेक में और दुःख को आनन्द में बदल देता है।

दुःख ही में गीत की उत्पत्ति है। यदि संसार सर्व-सुखी होता तो कवियों की उत्पत्ति शायद ही होती। अपूर्वता, अभाव, वेदना और कविता शायद एक ही भाव की भिन्न स्थितियाँ हैं। वेदना-जात ये गीत भी इतने आनन्ददायी कैसे होते हैं, इसी रहस्य में कविता का सौन्दर्य छिपा है। हमारे जीवन का ध्येय आनन्द है। उसकी प्राप्ति में जितना सन्तोष-सुख होता है उससे कहीं अधिक उसके अभाव से असन्तोष-दुःख होता है। मनुष्य की महत्ता उसकी चेतना है, उसकी शक्ति चेतनता है, और जब दुःख से, वेदना से, अभाव से चेतना कोर तक उद्वेलित हो उठती है तभी जो चेतना में सर्वोत्तम है उसकी सृष्टि होती है। हम आनन्द का अनुभव उतनी गहराई से नहीं करते; वह चेतना की ऊपरी सतह को स्पन्दित करके ही रह जाता है, परन्तु पीड़ा की

टीस अन्त तक पहुँच कर चेतनामय हो उठती है। फिर चेतना और पीड़ा में अन्तर नहीं रह जाता। इसीलिए हृदय की ग्रन्थियाँ दुःख में खुलती हैं।

प्रसाद की कविता में वेदना शायद मुख्य गुण नहीं है—इस अर्थ में तो वेदना महादेवीजी की कविता का ही विषय है; परन्तु प्रसाद में भी कविता का जन्म वेदना से ही होता है। अवश्य ही वह उसे छोड़ कर बड़ी दूर, कल्पना-लोक के आनन्द में विहार करती है; उसमें यदि वास्तविक नहीं तो इन्द्रिय-जगत का काल्पनिक सुख है। उनकी कल्पना में सौन्दर्य, प्रेम और यौवन अपनी पूरी मस्ती में, अपने खिले रंग में चित्रित होते हैं। अभाव की वेदना पीछे रह जाती है। क्षण भर तो लेखक और पाठक उस सुख का अनुभव करने लगता है जो उन्हीं के शब्दों में, 'अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र-मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाय।' भावना की सीमा जहाँ पीछे रह जाय ऐसे मधुर लोक की निराश खोज के पीछे केवल कल्पना का सहारा है—'शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश' परन्तु कवि के कल्पना-गगन में यह शून्यता, रस-हीनता नहीं है। उस काल्पनिक लोक में एक अनुभूत मादकता है, उल्लास है, वैभव है। वहीं पर अनन्त प्रेम है, यौवन है, सौन्दर्य है। कैसा अनुभूति-सुख है इस कल्पना में—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के धन रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन हुए रहते हो क्यों?"

यौवन के उन्माद का, उसके असंयत रस-प्रवाह का एक और भी मानस-चित्र है—

"आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेमालाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बन्धन खोल रहा।"

परन्तु यह जीवन-मधु पृथ्वी पर नहीं मिलता। असफल प्रेम अतृप्त यौवन अप्राप्त सौन्दर्य—इस अभाव से खिन्न होकर भी कवि की उत्कट इच्छा होती है—

"सुधा सीकर से नहला दो
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को बहला दो।"

प्रसाद का गीत संसार प्रकृति के उस पार और नियति की दासता से बहुत दूर एक अलग ही क्षणिक उच्छ्वास है। बच्चन में संसार की अवहेलना हो तन्मयता बन जाती है; महादेवी में अपने को उस दुःख की ज्वाला में झुलसाने की ही लगन है; प्रसाद में कल्पना का वह प्रभुत्व है कि वे बार-बार उसके परों पर अपना सारा स्थावर जड़ भार तोल कर एक नई दुनिया में, सुनहले संसार में जा पहुँचते हैं। पृथ्वी का ठोस आकर्षण मनुष्य का नियति-कृत दुःख-भार, उसकी जन्म-जात बर्बरता से उठी हुई कलुषता का सारा खिंचाव उन्हें बार-बार नीचे की ओर, प्रत्यक्ष की ओर, कठोर सत्य की सतह पर ला पछाड़ता है, परन्तु उतनी ही बार मानवता का स्वर्गीय अंश, कवि की कल्पना के थिरकते हुए पंख उन्हें उस पार, उस ओर, उस ऊँचे संसार में ले जाते हैं। उनकी गगन-विहारिणी कल्पना-शक्ति में वह हल्कापन, उड़नापन है जो मनुष्य की पाशविकता को यहीं छोड़ कर केवल उसके हृदय की सुकोमल भावना को ही अपने साथ ऊपर उठा पाता है। प्रसाद के गीत कल्पना-यान पर विचरते हुए छाया-चित्र हैं।

प्रसाद के गीत विशेष कर उनके नाटकों में मिलते हैं। वहाँ भी

उनकी स्थानीय उपयुक्तता ही उनका एकमात्र पार्थिव अंश है। जो उन्हें भावों के घात-प्रतिघात के रंग-मंच से सटाए रखता है, जो उन्हें पात्र-विशेष की प्रकृति के बन्धन में बाँध देता है, जहाँ उन्हें नाटकीय परिस्थिति की परवशता में रहना पड़ता है। परन्तु इन दुर्दमनीय ग्रहों की उपशान्ति के साथ ही कवि की कल्पना खींच कर, तान कर, रोक कर फिर छोड़े गए तीर की भाँति ऊपर को उठती है। जितना उसके पार्थिव-सम्बन्ध में जोर था उतनी ही प्रतिक्रियात्मक तीव्रता और अस्पृश्यता से उनकी कल्पना किसी एक अपार्थिव लोक में पहुँचती है। उनकी प्रतिभा का यह नियति का-सा अटल स्वरूप है। उनके किसी नाटक में से किसी सन्दर्भ से सम्बन्ध रखते हुए गीत को देखो: विरहिणी का अतृप्त प्रेम, पगली का मस्त प्रलाप, नर्तकी का व्यावसायिक गान, मातृभूमि का प्यार, भावावेश का उद्गार, हारे हुए की निराशा—सब का आदि भिन्न-भिन्न है, परन्तु सबकी इति उसी क्षेत्र में पहुँच कर होती है, जहाँ मानव की शुद्धता देवोपरि है, जहाँ उसका अधिकार अनियन्त्रित है, जहाँ उसकी गति स्वच्छन्द है, जहाँ सुख ही अनुभव का पर्यायवाची है और स्वाधीनता ही जीवन का अर्थ है; जहाँ प्रकृति की रम्यता के पीछे अगम्यता के पीछे अग्रम्यता नहीं है, जहाँ की नियति मनुष्य की शत्रु या विरोधक न होकर अनुगामिनी है। उसमें शैली (Shelley) का व्योम-विहार है, कीट्स (Keats) का-सा करुण विद्रोह है, साथ ही उमर-खय्याम का-सा नियति से असन्तोष है।

कोरी कल्पना से ही वह मादकता उत्पन्न नहीं हो सकती जो प्रसाद के गीतों में भरी रहती है। अनुभूति, कल्पना-लोक में प्रकृति सौन्दर्य की व्यापकता लेकर देश काल, पात्र की सीमित परिधि को प्रकृति की विश्वव्यापकता में परिणत करके भी, हमारे अनुभव से परे की नहीं बन जाती। कीट्स की कविता में एक प्रकार इन्द्रिय-सुख-स्पर्श करता-सा मालूम देता है। उसकी कल्पना ग्रीक और लैटिन रोमान्स की दुनियाँ में पहुँचकर भी मानो उसकी अतृप्त अनुभूतियों का भार साथ

लिए रहती है, उसी प्रकार प्रसाद की कल्पना में भी इन्द्रिय सुख का स्पन्दन वर्तमान रहता है, फर्क इतना ही है कि वह कीट्स की भाँति दैहिक न होकर कल्पनात्मक है (Sensousness of Imagination)। जब मालविका (चन्द्रगुप्त) वास्तविक जगत में प्रेम का आलम्बन नहीं पाती, जब चन्द्रगुप्त का सशरीर उसके पास रहना भी अभाव रूप में ही रहता है, तब उसकी वेदना चन्द्रगुप्त की शैय्या मात्र का सहारा लेकर, वह भी अन्तिम क्षणों की विभूति—ऐसे सुख का सृजन करता है जो सिर्फ कल्पना पर टिका हुआ है परन्तु भावोद्वेग के कारण वह असम्भव नहीं प्रतीत होता। शय्या का स्पर्श उसकी इन्द्रियों को नहीं स्वयं उसकी चेतना को ही स्पन्दित कर देता है—

"ओ मेरी जीवन की स्मृति !
ओ अन्तर के आतुर अनुराग
बैठ गुलाबी विजन उषा में,
गाते कौन मनोहर राग।"

अनुराग उषालोक में जा विराजता है और फिर पृथ्वी से उसके सौन्दर्य का पान करती हुई मालविका का—

"चेतन सागर उर्मिल होता,
यह कैसी कम्पन-मय तान।
यों अधीरता से न मींज,
लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान।"

अभाव की वेदना हमें गला देती है। इस क्षणिक काल्पनिक सुख का स्पन्दन इन्द्रियों को शिथिल करके प्राणों को विभोर कर देता है। इस मादकता का रंग ज्यों-ज्यों गहरा पड़ता है त्यों-त्यों उत्सर्ग के लिए उत्सुक मालविका के प्राण अपनी नस-नस में चन्द्रगुप्त की स्मृति, उसके शरीर से छुई हुई उस शय्या को मूर्छना उसे ऊपर बहुत ऊपर कहीं लिए चली जा रही है—इन्द्रिय-जगत पीछे पड़ता जा रहा है—

"कहाँ ले चले कोलाहल से,
मुखरित तट को छोड़ सुदूर।
आह! तुम्हारे निर्दय डाँडों से
होती हैं लहरें चूर।"

स्पर्श-सुख, स्मृति का अनुराग, समय और स्थल का अस्तित्व मानों एक ही भाव में डूब कर नीरव, निश्चल और अनन्त प्रकृति के अनादि तत्वों में मिल जाता है। इसीलिए प्रसाद के गीतों की अन्तिम दो पंक्तियाँ प्रायः प्रकृति में 'भव, विभव, पराभव' का शाश्वत क्रियाओं में गीत का सार मिला देती हैं। मालविका के अनुभव की सीमा क्षितिज ही बन जाता है, देवसेना (स्कन्दगुप्त) अपनी सूनी वेदना को हृदय की करुणा के आवरण में और अधिक देर नहीं छिपा सकती—

"लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा हा खाती।
विश्व न संभलेगी यह मुझसे
इसने मन की लाज गँवाई।"

जिस नियति के अन्धचक्र से वेदना और असफलता का भार मानव पर पड़ा था वह अब मानव-शक्ति के बन्धन से छूट कर प्रकृति में ही लुप्त होकर एकाकार हो जाता है। इसीलिए कल्पना की उड़ान के पश्चात्, अनुभूति की तीव्रता के उपरान्त प्रकृति की क्रियाओं में मानव की पूर्णतया एक-प्राणता दिखाने के पश्चात् भी प्रसाद मानो किसी एक तथ्य पर नहीं पहुँच पाते। महादेवी को उसी अभाव और वेदना में कुछ चीज हाथ आ जाती है, पर प्रसाद के लिये उतना ऊपर उठ कर भाव की सीमा में भी रहना असम्भव है। वहाँ तो फिर अनन्तशून्यता ही है, वहाँ बुद्धि अगम्य है, कल्पना निष्प्राण है—

"क्षणिक वेदना अनन्त सुख बस
समझ लिया शून्य में बसेरा।

पवन पकड़ कर पता बताने
न लौट आया न जाय कोई।"

गीत के अन्त में प्रायः यही अस्पष्टता बनी रहती है।

इस प्रकार की कल्पना प्रसादजी की काव्य-प्रतिभा की विशेषता है, परन्तु गीत में इसके अतिरिक्त भी सौन्दर्य और मधुरता सृजन करने का साधन होता है—वह है गीत का गठन। भावोच्छ्वाह, शब्दों की मधुरता, ध्वनि की सुकुमारता, भाव की स्निग्धता और नूतनता, उसकी सिहरन आदि भी उतने ही आवश्यक अङ्ग हैं जितनी कल्पना। भावोच्छ्वास की गीत में विशेष आवश्यकता होती है। जब हृदय किसी विशेष भाव से आच्छन्न होता है तब उस भाव का सम्पूर्ण अंश बातचीत और क्रिया के द्वारा व्यक्त नहीं हो पाता। बातचीत और क्रिया नाटक की सामग्री है और जो उसके द्वारा पूर्णतया व्यक्त नहीं होता वह गीत की। जो साधारणतः नहीं देख पड़ता, अदर्शनीय और अन्य के अनुमान में भी आनेवाला नहीं है, अर्थात् जो भावयुक्त मनुष्य के हृदय में उच्छ्वसित है उसी को व्यक्त करना गीत का काम है। प्रसाद के गीतों की यह दूसरी महान् विशेषता है। नाटकों में होने के कारण गीतों का पात्रों से अटूट सम्बन्ध रहता ही है, गीत का सौन्दर्य चरित्र के चित्रपट पर और भी अधिक प्रभावोत्पादक हो उठता है। गीत के प्रधान गुण भावोच्छ्वास को पूर्णता देने में प्रसाद 'सूर' से अधिक दूर नहीं। पद्मावती (अजातशत्रु) उदयन के तिरस्कार से दुःखी होकर जब वीणा भी नहीं बजा सकती तब गाने लगती है।—

"मींड मत खिंचे बीन के तार।"

भाव की ग्रन्थि जितनी कोमलता से खोली है, पीड़ा की कसक जितनी तीव्रता से और असमर्थता का दुःख जितनी करुणा से प्रकट किया है वह अद्वितीय है—

निर्दय अंगुली! अरी ठहर जा
पल भर अनुकम्पा से भर जा

यह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।"

यहाँ तक कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पीड़ा अपनी सीमा तक पहुँचकर और ही रूप धारण कर लेती है—

"नृत्य करेगी नग्न विकलता
परदे के उस पार।"

देवसेना जिसका प्रेम-जीवन गीत में ही अनुप्राणित हो सका, जब नाटक के अन्त में अपने निष्फल जीवन पर एक दृष्टि डालती है, जब भविष्य की आशा का त्याग करती है तो इन शब्दों में—"हृदय की कोमल कल्पना! सो जा! जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था ..."आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेती हूँ—" में ही उसके उच्छ्वास का अन्त नहीं हो सका है। वह तो अथाह है, डुबाएगा ही, अनन्त है, बहेगा ही। और देवसेना गाने लगती है—

आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे सन्ध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रति-क्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी, नीरवता अनन्त अंगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधु-माया में,
गहन विपिन की तरु-छाया में।
पथिक उनींदी श्रुति में किसने, यह विहाग की तान उठाई।
चढ़कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर, उससे हारी होड़ लगाई।

लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा-हा खाती
विश्व न संभलेगी यह मुझसे, इसने मन की लाज गँवाई।"

एक के बाद दूसरी पंक्ति देवसेना की असफल प्रेम की हूक को, अपने जीवन की असार्थकता को, जगत से बचा-बचा कर प्रेम के कोमल किसलय को पालने की थकान प्रकट करती है। मानों जीवन-शक्ति अब बुझती जा रही है, ठण्डी पड़ती जा रही है। यहाँ तक कि अन्त में देवसेना अपने भावों का विश्व में समर्पण कर देती है। एक ही भाव की तन्मयता में प्रसाद के पात्र, समय, स्थल, गीत और पाठक सभी डूब जाते हैं, डूबकर मिल जाते हैं।

अनुभूति की तन्मयता में मालूम होता है कलाओं का स्वरूप भिन्न नहीं रह जाता। चित्रकार कवि बन जाता है, कवि चित्रकार, चित्रों में सङ्गीत बह निकलता है। कल्पना सङ्गीतमूर्ण हो उठती है। शब्द ही तूलिका बन ध्वनि फूटी पड़ती है, रङ्ग गाने लगता है। यही कला का अन्तिम स्वरूप है जहाँ सौन्दर्य अंगों में नहीं सशरीर आ विराजता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं कलेवर बन जाती है। प्रसादजी की कला का भी यही रूप उनके गीतों में मिलता है। पाठक भूल जाता है—वह कविता पढ़ रहा है या चित्र देख रहा है अथवा सङ्गीत के सम पर ही खड़ा है। उनके गीतों के सम पर 'विश्व सिर हिला देता है', उनके चित्रों के सौन्दर्य पर दृष्टि अचल हो जाती है, उनके काव्य के भाव में मन विभोर हो जाता है। पार्थिवता दूर बहुत पीछे रह जाती है। कवि पाठक को एक ही उड़ान में अपने लोक में ले जाता है जहाँ कलाएँ मूक होकर एक दूसरे का आलिंगन करती हैं। प्रसाद की यह जीत है। इसी जीत में उनकी महानता है। सुवासिनी—सङ्गीत-सौन्दर्य-प्रेम की मूर्ति सुवासिनी—गाने लगती है—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक-छिप कर चलते हो क्यों"

यदि चित्रकार इस पर तूलिका उठाए तो कैसे चित्र की कल्पना करेगा ? एक तो किरण यों ही सुनहली तिस पर 'कनक-किरण', किरण वैसे ही शून्य में भरी रहती है उसके हल्केपन के भी 'अन्तराल' में यदि लज्जापूर्ण सौन्दर्य लुक-छिप कर चले तो ! भाव की कोमलता वातावरण का हल्कापन और पवित्रता, मूर्ति की मञ्जुलता मानो एक ही सुनहले रंग द्वारा आँखों में भर जाती है। समाप्त हो रही रात के समय उषा के आगमन का चित्र एक पनिहारिन की मूर्ति में स्थापित करके मानों आपने कल्पना को शरीर दे दिया है—

जाग री

अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट उषा नागरी।"

वे डूबते हुए तारे, वह उषा का हल्की-सी लालिमा लिए हुए पवित्र उज्ज्वल रूप जो अनन्त नील गगन के किनारे सिमट-सा खड़ा दीखता है, मानो प्रकृति पनिहारिन, पनघट और घटरूप में सीमित हो गई है। प्रसादजी की यह विशेषता है कि वे प्रकृति की क्रियाओं को मानवीय भाव तथा क्रियाओं को कृति-रूप द्वारा प्रकट करके पार्थिव और अपार्थिव दोनों लोकों का सौन्दर्य सजग कर देते हैं। मालविका का अपना अनुराग अन्तिम क्षणों में ही सुहावना प्रतीत हुआ और तभी वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गई। प्रेम इतना सुन्दर! इतना मधुर! उसका मालविका उतना ही सुन्दर कोमल, स्निग्ध; और पवित्र चित्र आँखों में उतारती है।

"ओ मेरी जीवन की स्मृति !
ओ अनन्त के आतुर अनुराग
बैठ गुलाबी विजन उषा में
गाते कौन मनोहर राग।"

'अ' की आवृत्ति से संगीत पैदा होता है पर वहाँ तो 'अनुराग' उषा की गुलाबी झलक में स्वयं ही गाने लगता है। प्रसाद कलाकार हैं, वे जानते हैं अनुराग का रंग वैसे भी लाल ही बताया गया है, परन्तु मालविका का अनुराग—वह क्या वैसा रक्तवर्ण लाल था? चन्द्रगुप्त के लिए वह असम्पुट प्रेम क्या इतना उद्दाम था? कहाँ वह तो अपनी कोमलता में ही उठ नहीं पाता। इसीलिए वह लाल न होकर गुलाबी था, प्रखर सूर्य के समान जलता न होकर उषा की हल्की गुलाबी झलक में गाता था। मालविका के प्राण—उत्सर्ग के कगारे बैठे हुए प्राण—अनुराग बनकर उषा की प्रशान्त गुलाबी झलक में गाते-गाते विभोर हो जाते हैं। इस सौन्दर्य का नाप-तोल असम्भव है जहाँ चित्र, काव्य, संगीत एक दूसरे को पहचान नहीं पाते।

गीतों की नाटकीय उपयोगिता, समय, स्थल, पात्र और विषय के अनुसार उनकी उपयुक्तता भी उनकी कला के अंग हैं। जब ग्रीस राजकुमारी कार्नेलिया भारतभूमि के वैभव और ज्ञान से आश्चर्यान्वित एवं पुलकित होकर उसकी प्रशंसा करती है (समय) जब वाणी द्वारा असमर्थ होकर वह वन्दना-स्वरूप गाने लगती है (स्थल) उदार-हृदया कार्नेलिया ग्रीस की होने पर भी भारत के महत्व गुण-गान में हिचकती नहीं (पात्र) तो प्रसाद भी अपनी कल्पना के सहारे देश-प्रेम की सुन्दरतम भावना (विषय) को कार्नेलिया के मुख से प्रकट करवाते हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज धारा।
बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।"

उस समय के भारतवर्ष का कितना सौम्य प्रशान्त स्निग्ध चित्र है जब भारत सब के आश्रय का नीड़ था। जहाँ आकर विजयी सिकन्दर भी उसकी उदारता पर मुग्ध हो गया था। जहाँ कार्नेलिया—कवि-हृदय की विभूति—भी वहीं पहुँच गई जहाँ के लिए वह चली थी। वह प्रकृति का भी आश्रय-स्थल था। देश-प्रेम की कैसी उदात्त भावना है। नाटकीय उपयोगिता की सार्थकता सम्पूर्ण हो जाती है।

× × × ×

कला! तुम अनन्त सौन्दर्यशालिनी हो, हमारी पूजा की सामग्री परिमित! वह निबट चली, भाव का उद्वेग शान्त हो चला परन्तु उपासना अभी अधूरी ही है।



प्रसादजी के उपन्यास (१)

प्रसादजी कवि थे। उपन्यास भी कविता का ही एक रूप है। उनके हृदय में कविता देवी की मूर्ति इस स्थिरता से स्थापित थी कि उनकी सभी कृतियों में चाहे वह गीत-काव्य को कुछ पंक्तियाँ हों, नाटक का एक दृश्य हो अथवा औपन्यासिक चरित्र-चित्रण हो, वह झाँक-झाँक पड़ती थी। अपनी जीवन-यात्रा में उन्होंने प्रत्येक मील-स्तम्भ को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से परखा था। प्रत्येक क्षण की अनुभूति निराले ढंग से की थी। प्रसादजी की कला-प्रतिमा यदि अलङ्कारों और वस्त्रों को हटा कर देखी जाय तो सत्य का ही स्वरूप है। कभी-कभी जैसे 'कङ्काल' में, वह बड़ा भीषण है, परन्तु उसका उत्तरदायी रचयिता प्रसाद नहीं है। सत्य, स्वयं परम सत्य सुन्दर ही है कि असुन्दर भी, मैं नहीं कह सकता, मेरा कभी साक्षात्कार नहीं हुआ। भगवान् ने गीता में जहाँ अपना परिचय दिया है वहाँ 'वित्तेशोयक्ष रक्षसाम', 'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां', 'मृगाणांच मृगेन्द्रोहम्' 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्' सब सुन्दर वस्तुएँ अपने लिए खोज ली हैं। भगवान् सुन्दरता के इतने बड़े प्रेमी हैं, तब असुन्दरता के लिये भी कोई स्थान उनके पास है कि नहीं, मैं नहीं कह सकता। केवल बेचारे कवियों के लिए उन्होंने कहा 'कविनामुशना कवि' अर्थात् कवियों में मैं शुक्राचार्य कवि हूँ।

परन्तु इस संसार में तो भीषणता तथा असुन्दरता भी कम परिमाण में नहीं है। वह सत्य नहीं है, यह कहने का मेरा साहस नहीं है, मैं इतना बड़ा दार्शनिक नहीं हूँ। जिसकी अनुभूति हमारी इन्द्रियों द्वारा होती है, हम साधारण व्यक्तियों के लिए वह भी सत्य का ही एक स्वरूप है। सुन्दर और असुन्दर सत्य के दोनों स्वरूपों का चित्रण प्रसादजी के उपन्यासों में पाया जाता है।

कथानक—कविता में प्रसादजी आन्तरिक स्वरूप में अधिक हैं। जहाँ उन्हें वाह्य रूप भी लिखना पड़ा है वहाँ भी आन्तरिकता प्रवेश कर गयी है। नाटकों में उन्होंने अधिकांश अपना प्रासाद इतिहास की नींव पर खड़ा किया है। उन्होंने तीन उपन्यास लिखे। 'कंकाल' और 'तितली' तो संसार के सम्मुख आ चुके हैं। तीसरा 'इरावती' अधूरा छोड़ कर वे संसार को भी छोड़ गये। कथावस्तु बहुत पुष्ट नहीं है। यह घटना-प्रधान् उपन्यास है। बहुत-सी घटनाएँ घटती हैं। यद्यपि उनके कर्त्ता अथवा भोक्ता किसी-न-किसी प्रकार से कभी-न-कभी एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। देवनिरञ्जन और किशोरी की एक कथा है। मङ्गल और तारा की एक कथा है। इन दोनों कथाओं का क्रमशः विकास किया गया है। और जैसे एक कुशल चित्रकार दो रङ्गों को मिलाता है, एक दूसरे से मिलाये गये हैं। इनके भीतर तीन उपकथाएँ घण्टी और विजय की, बाथम और लतिका की तथा गाला गूजर की समावेशित हैं। इन तीनों को भी एक दूसरे के साथ और दोनों मुख्य कथाओं के साथ इस प्रकार से लेखक ने बाँधा है कि यह एक शरीर के ही विभिन्न अङ्ग हो गयी हैं। एक दूसरे का सम्बन्ध घटना-चक्र द्वारा होता है। सारी कथा एक कथानक का विकास नहीं है।

'तितली' एक ग्राम का चित्र है। इसमें एक ग्राम के दो प्राणियों के चारों ओर सारा चक्र घूमता है। बंजो और मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसके नायिका और नायक हैं। तितली का स्वभाव ही मधुवन में थिरकना और नृत्य करना है। और सभी पात्र इस नृत्य के दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी, अनवरी इत्यादि नगर से आते हैं और नगर को लौट जाते हैं। उनमें नागरिकता है। इस उपन्यास में कथानक एक ही है। उसी के विकास में और पात्र सहायता देते हैं। यों तो किसी उपन्यास में घटनाओं का प्रभाव पड़े बिना कथा का विकास हो ही नहीं सकता, किन्तु 'कङ्काल' में घटनाओं की प्रधानता है, कथावस्तु की नहीं। 'तितली' में कथा का प्राधान्य है।

यह कहा जा सकता है कि 'कङ्काल' का कथानक घटनाओं से बना है, तितली की घटनाएँ कथानक से बनी हैं।

चरित्र-चित्रण—प्रसादजी अपने उपन्यासों में आदर्शवादी नहीं हैं। उनके पात्र सजीव प्राणी हैं! देवनिरञ्जन से कितने कर्मनिष्ठ तपस्वी सौन्दर्य की स्निग्धता पर, मनु से लेकर आज तक, फिसलते आये हैं और किशोरी-सी कितनी किशोरियाँ सन्तान-लिप्सा में जीवन की उस राह में पाँव रखती हैं, जिसे समाज पतन कहता है। मङ्गल से कितने युवक हमारे आपके बीच मङ्गल करने को उद्यत होते हैं परन्तु समाज उन्हें बढ़ने नहीं देता और वह अमङ्गल हो जाते हैं। श्रीचन्द से कितने व्यवसायी हमारे समाज को अलंकृत करते हैं, जो धन एकत्र करना और विलास को ही जीवन का ध्येय समझते हैं। वाथम ऐसे ईसाई व्यापारी अब भारतवर्ष में सम्भव है कम दिखाई देते हों (क्योंकि ईसामसीह की भेड़ों के उपयुक्त इस देश में अब घास कम मिलती है) परन्तु कुछ ही दिनों पहले वाथम ऐसे ईसाई भारतवर्ष के प्रत्येक नगर में ही नहीं, गाँव में भी घुसे दिखाई देते थे। जिनका काम भूले हुओं को ईसा के नाम पर ईसाई मत में प्रवेश कर देना और किसी-न किसी प्रकार धनोपार्जन करना था। इस प्रकार से 'कङ्काल' के सभी पात्र हमीं आप में से लिये गये हैं। उनका जीवन भी मनुष्यों का ही जीवन है। कोई असाधारण व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ते। गोस्वामी अवश्य एक ऊँची श्रेणी के व्यक्ति हैं। ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है, देश में कम भले ही हों। और 'कङ्काल' में भी एक ही गोस्वामी जी हैं। घण्टी और गाला का चरित्र अवश्य कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है परन्तु जिस वातावरण में वह पायी जाती है उसमें ऐसा होना असम्भव नहीं है।

'तितली' में जो पात्र चित्रित किये गये हैं वे भी स्वाभाविक हैं। इन्द्रदेव, माधुरी, स्वरूपकुमारी, मधुवन, अनवरी, मैना, राजकुमारी—सब चलते-फिरते व्यक्ति हैं और पग-पग पर हमारे समाज में मिलते हैं। 'कङ्काल' के गोस्वामी जी के प्रतिनिधि 'तितली' में बनजरिया वाले

बाबाजी हैं। जहाँ तक समझ में आता है, महात्मा गांधी इन दोनों चरित्रों की सृष्टि के मूल में हैं। जिस युग में यह उपन्यास लिखे गये हैं वह महात्मा गांधी का अभ्युदय काल है और गोस्वामी जी और बाबाजी महात्मा जी के स्पष्ट प्रतिनिधि हैं। पहले आध्यात्मिक और दूसरे सामाजिक।

इन दोनों उपन्यासों में चरित्रों का क्रमशः उत्थान नहीं दिखाया गया है, यह तो लेखक उस समय करता है जब उसे एक आदर्श उपस्थित करना होता है। जिस रूप में मनुष्य आज हमारे समाज में पाया जाता है उसी रूप में उन्हें लेखक ने इन पुस्तकों में व्यक्त किया है। अपवादों को छोड़ दीजिए, उपन्यास अपवादों की सूची नहीं होते। अपवादों को यदि छोड़ दें तो संसार में मनुष्य पतन की ओर अधिक उन्मुख है। हमारी स्त्री-जाति अपने हृदय की दुर्बलताओं का शिकार है और मनुष्य के स्वार्थ की क्रीड़ा। प्रसादजी के चरित्रों की विशेषता यह है कि वे अतिरञ्जित नहीं हैं। उन्होंने चित्रकारी नहीं की है, फोटोग्राफी की है। प्लेट पर जो जैसा रहा है, वैसा उतार दिया है। किसी-किसी चित्र के उपर रङ्ग भी चढ़ा दिया गया है बस। यह दोनों पुस्तकें वर्तमान हिन्दू-समाज के यथार्थ चित्रण हैं। परन्तु प्रसादजी का यथार्थ-वाद 'अल्ट्रा-रियलिस्ट' लेखकों की भाँति शिष्टता की सीमा के परे नहीं है। एक मर्यादा के भीतर है।

युग का प्रभाव—ऊपर मैं कह चुका हूँ कि प्रसादजी के सभी चरित्र समाज से लिये गये हैं और वह आधुनिक समाज है। आज जिस अवस्था में हिन्दू नर-नारी हैं, उसी का प्रतिबिम्ब है। अपने नाटकों में प्रसादजी ने प्राचीन भारत की महत्ता का दिग्दर्शन कराया है। उपन्यासों में अर्वाचीन भारत के जीवन के स्पष्टीकरण की चेष्टा है। हमारा स्त्रियों के प्रति भाव और व्यवहार, देश में मन्दिरों और मठों की अवस्था, पूजा-पाठ का ढोंग, विवाहादि संस्कारों का पतन,

जो भी इस समय देश की स्थिति है, उसी को लेकर इन उपन्यासों की रचना की गयी है।

आज समाज में एक असन्तोष-सा फैला है। आज लोग सोच रहे हैं कि सुधार के लिये सङ्गठन की आवश्यकता है कि नहीं। निरञ्जन के शब्दों में वर्ण-भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है अथवा ईश्वर प्रदत्त कुछ ऐसी वस्तु जो अमिट है। नारी और पुरुष के सम्बन्ध का 'एकमात्र समझौता' विवाह ही है कि और कुछ। विवाह के लिये दो हृदयों का सच्चा आदान-प्रदान ही पर्याप्त है कि विशेष रूप से वेदी पर बैठ कर मन्त्रोच्चारण आवश्यक है। लोगों में भगवान के प्रति श्रद्धा और अश्रद्धा का द्वन्द्व चल रहा है। प्रेम सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न जो समाज के हृदय में हलचल मचा रहे हैं उन्हें भी इन उपन्यासों में व्यक्त किया गया है।

यह कहना मूर्खता होगी कि प्रसादजी ने इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया है अथवा सब समस्याओं की यथोचित मीमांसा की है। समाज की अधिकाँश समस्यायें नित्य हैं। जो अलग-अलग युग में अलग-अलग रूप धारण करके आती हैं। उस युग के अनुसार लोग उसके निराकरण का प्रयत्न करते हैं। प्रसादजी के एक नाटक की आलोचना करते हुए स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द ने 'माधुरी' में लिखा था कि इन पुरानी बातों से देश का क्या कल्याण होगा, गढ़ा मुर्दा उखाड़ने से क्या लाभ? मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। प्राचीनता की ही नींव पर तो वर्तमान खड़ा है। फिर स्वयं मुन्शी जी की भाँति सोचनेवालों के लिए ये दोनों उपन्यास हैं जिनमें समय की गति के साथ-साथ चरित्र चलते हैं। यद्यपि मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि कंकाल में भी भगवान कृष्ण ही को आदर्श माना है (मार्क्स, लेनिन, या आगाखाँ को नहीं!)

ग्रामीण जीवन का चित्रण—प्रसादजी का जीवन अधिकाँश नगर में बीता था! इधर हमारे देश में राजनैतिक कारणों से तथा

आर्थिक कुव्यवस्था के कारण नेताओं का दृष्टिकोण बदला। आवाज उठी कि ग्रामों का सुधारना आवश्यक है। 'तितली' इसी की प्रेरणा है। परन्तु 'तितली' के अधिकाँश पात्र नगर निवासी हैं। उन्हें अपने ग्राम से प्रेम है, उसमें सुधार करना चाहते हैं, उसकी अवस्था का उन्नात करना चाहते हैं किन्तु ग्राम-हृदय उनमें नहीं हैं। ग्राम जीवन का चित्र पूर्ण रूप से तब होता जब इसके सब पात्र मधुबन, तितली और राजकुमारी के समान ग्राम ही के होते। वहीं वे जनमे होते, वहीं उनका जीवन बीता होता, तब उनमें ग्राम की आत्मा बालती। प्रतीत यह होता है कि इस पुस्तक में ग्राम-जीवन का चित्रण उतना अभीष्ट नहीं था जितना ग्राम की समस्याओं के चित्रण का। यदि ग्राम-जीवन इस पुस्तक का आदर्श रहा तो सफलता नहीं मिली। यदि इस उपन्यास में लेखक ने उन समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न किया है जो बीसवीं शताब्दी में गाँवों में प्रस्तुत हो गयी है तब लेखक अपने ध्येय पर पहुँचा है। परन्तु इन्द्रदेव के हैमलेट की भाँति "टू बी आर नाट टू बी" के जीवन ने और विधिवश शैला के पिता के घटनास्थल पर पहुँच जाने से ग्रामसुधार का कार्य विलुप्त प्रायः हो गया। इसमें मधुवन का चित्र एक ग्रामीण निवासी के रूप में बहुत सच्चा उतरा है।

संवाद—उपन्यासों में संवाद बड़े महत्त्व की वस्तु समझे जाते हैं। इनसे पात्र सजीव हो जाते हैं। प्रसाद जी के उपन्यासों में संवाद उपयुक्त, ओजपूर्ण, समयानुकूल तथा स्पष्ट हैं। एक बात अवश्य खटकती है कि 'कंकाल' में विशेषतः प्रसादजी के सब पात्र दार्शनिक हैं। चाहे शास्त्रों के अध्ययन करने वाले मनीषी गोस्वामीजी हों, अथवा समाज-सुधार का सपना देखने वाला मंगल हो, वृन्दावन की कुंज गलियों में अट्टहास की ध्वनि फैलाने वाली घंटी हो या कान्तार की छाया में विलसने वाली कमनिया वाला गूजरगाला हो, सब एक-से-एक बढ़कर तार्किक और दार्शनिक हैं। यदि इस अंश को छोड़ दिया जाय तो संवाद पात्रानुकूल और प्रभावोत्पादक हैं। किसी भी संवाद ने व्याख्यान

का रूप धारण नहीं किया है। कहीं-कहीं तो वे बड़े ही मार्मिक ढंग से कहे गये हैं। उनका रस चखने के लिए तो उन्हें ही पढ़ना होगा, यह लेख नहीं।

स्त्रियों का स्थान—प्रसादजी ने दोनों ही उपन्यासों में स्त्रियों के चरित्रों पर विशेष ध्यान दिया है। प्रसादजी की नारियाँ सब दुर्बल हैं। वे सदा अपनी दुर्बलताओं के वशीभूत हैं। उन्हें वेदना है, वे रोती हैं, खीजती हैं, समाज के कठोरतम दण्डों को सहती हैं और समाज की दृष्टि में पतित भी होती हैं; परन्तु मूक हैं। कुछ वश नहीं चलता। यही तो भारतीय स्त्रियों का स्वाभाविक चित्रण है। गाला के शब्दों में स्त्रियों की परिभाषा है:—"नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है।" एक स्थल पर वही कहती है—"स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है" संसार की और स्त्रियों के लिये यह ठीक हो या नहीं, भारतीय नारियों के लिए यह कठोर सत्य है। हमारे समाज में स्त्रियों पर जो अत्याचार होता है उसी की ओर इन उपन्यासों में लेखक ने लोगों की दृष्टि आकर्षित करने की चेष्टा की है। कुछ लोगों का कहना है कि 'कंकाल' में प्रसादजी ने स्त्रियों का चरित्र बड़ा ही विडम्बनापूर्ण चित्रण किया है। सभी पतनोन्मुख हैं। वर्तमान हिन्दूसमाज के मानदण्ड से, अधिकांश स्त्रियाँ चरित्र-भ्रष्ट हैं। परन्तु यह बात नहीं है। प्रसादजी का अभिप्राय यही है कि समाज की दृष्टि इन निरीह, पीड़ित, विताड़ित प्राणियों की ओर खींचें। हम देखें कि स्त्रियों पर समाज ने कितना अत्याचार कर रखा है। दोनों उपन्यासों में स्त्रियाँ तो अपनी दुर्बलता के कारण अपना जीवन दुःखी बनाती हैं, उन्हीं के कारण पुरुषों का जीवन भी अन्धकारमय हो जाता है। साथ ही पुरुषों का पाप-विमोचन भी स्त्रियों के ही द्वारा होता है। जिस भांति शेक्सपीयर की नारियाँ उसके नाटक के पुरुषों के कल्याण का कारण बनती हैं, उसी प्रकार प्रसादजी की स्त्रियाँ पुरुषों के तमोमय जीवन में दीपक की रेखा बनती

है। शैला ही इन्द्रदेव के जीवन को स्थिर करती है। घंटी ही विजय को शान्तिपूर्ण मृत्यु प्रदान करती है। और गाला मंगल के जीवन का मार्ग बनाती है।

स्त्रियों में तितली का चरित्र अवश्य बलवान है। वह पर्वत सी अटल, सागर-सी गंभीर, पृथ्वी-सी सहिष्णु है। कभी-कभी उसका चित्त विचलित होता है परन्तु वह चेत जाती है। उससे कुछ ही कम गाला है। हृदय की उस कोमल भावना के, जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी वशीभूत है। कौन नहीं होता, परन्तु है पूर्ण कर्तव्य-निष्ठ और दृढ़।

स्त्रियों की दुर्बलता की दुहाई देकर और उनके सुधार की आवाज ऊँची उठा कर और समाज में उन्हें उचित स्थान देने का दावा करके भी प्रसादजी का आदर्श भारतीय ही है। पश्चिम के आदर्श को उन्नति का मार्ग उन्होंने नहीं माना। शैला उसका उदाहरण है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध की सबसे उत्तम अवस्था विवाह ही है। पश्चिम का पथ मंगलमय नहीं है।

जीवन की आलोचना—इनके दो उपन्यास समाज से सम्बन्ध रखते हैं। समाज के सभी अङ्गों पर इन्होंने दृष्टि डाली है। पूजा-पाठ, विवाह, शिक्षा, अर्थ. न्याय आदि विषयों का इस समय समाज में क्या स्वरूप है—इन उपन्यासों में मिलता है। परन्तु सबके मूल में जो पारिवारिक जीवन है उसी पर प्रसाद जी ने विशेष ध्यान दिया है। पुरुष और स्त्री का सामज में क्या स्थान है और एक दूसरे के प्रति क्या सम्बन्ध समाज के लिये हितकर हो सकता है, यही दो प्रश्न उनकी समस्या के मूल में हैं हमारे देश में यह सम्बन्ध ठीक है कि नहीं, यही उन्होंने दिखाया है। सिद्धान्तों को लेकर मनुष्य कहाँ तक सफलता पूर्वक चल सकता है। प्रसाद जी के अनुसार कोरे सिद्धान्त भयंकर होते हैं। उनका कहना है कि हम अपने लाभ के लिए बहुधा सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। समाज के भय से हम दूसरों का जीवन नष्ट कर देते हैं। अपनी त्रुटियों का फल भोगने का हमें साहस नहीं होता। पारिवारिक जीवन में वैमनस्य के जो कारण हो जाते हैं, 'तितली'

में उनका भी यथेष्ट दिग्दर्शन है। लतिका की कहानी लाकर यह भी दिखाया गया है कि केवल धर्म-परिवर्तन से जीवन में शान्ति नहीं आ जाती। उसके लिए तो हृदय में सन्तोष और शान्ति आवश्यक है। जैसे एक सर्जन सड़े अङ्गों को काट कर फेंकता जाता है, उसी प्रकार प्रसादजी ने हमारे समाज की दूषित स्थिति को समाज के सम्मुख निः संकोच रूप से रख दिया है।

नियतिवाद—प्रसादजी अपने जीवन में नियतिवाद के विश्वासी थे। पग-पग पर उनके उपन्यासों में यह स्पष्ट रूप से झलकता है। किशोरी यात्रा करने आती है पर मिल जाता है निरंजन। निरंजन भागता है तो भी वह हरद्वार पहुँच जाता है। मंगल तारा की सहायता करने जाता है, परन्तु एक दूसरी ही घटना का नायक बन जाता है। फिर वह जङ्गल में छिपने जाता है तो मिल जाती गाला। इसी प्रकार से घंटी विजय को खींच लाती है। शैला लन्दन से भारत चली आती है, जहाँ उसके पिता कभी नील का गोदाम चलाते थे। सब इस बात की चेष्टा करते हैं कि अपने एक निश्चित मार्ग की ओर चलें, परन्तु सब व्यर्थ। नियति-सरिता की धारा बड़े वेग से अदृष्ट की ओर बढ़ाये चली जाती है। सब परवश, सब पराधीन, जितने पात्र हैं किसी ऐसे सूत्रधार की डोरी द्वारा कठपुतली से नाच रहे हैं कि बचना असम्भव है। चाहते हैं करना कुछ, करते हैं कुछ, हो जाता है कुछ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रसादजी ने सर्वोपरि यह दिखाने की चेष्टा की है कि कोई महान् शक्ति जगत् के प्राणियों में खेल रही है और यह खिलौने से इधर-उधर थिरक रहे हैं। सब अपने-अपने भाग्य के आधीन हैं। जिधर नियति नटी ले जाय, जाते हैं। स्वयं लाचार हैं।

विचार-धारा—प्रसादजी के उपन्यासों में सुधारवाद तो है परन्तु वह पश्चिम के लिये हुए नवीन विचारों अथवा उपकरणों में नहीं है। अधिकांश उनके सिद्धान्त और विचार गोस्वामीजी के व्याख्यान द्वारा व्यक्त होते हैं। राजनीति में वे भगवान् कृष्ण की व्यवस्था के अनुगामी

प्रतीत होते हैं। वे प्राचीनता के भक्त हैं। यह तो उनके नाटकों से भी
प्रकट होता है कि प्रसादजी भारतीय संस्कृति के उपासक थे। 'कंकाल'
उपन्यास में भी गुप्तकाल के साम्राज्य गौरव के वर्णन करने का लालच
रोक नहीं सके। प्राचीन रूप में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था और विवाह-
प्रथा तथा समाज का पुराना संगठन उन्हें अभीष्ट था। ऐसा इन
उपन्यासों से झलकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक स्वयं ठीक निश्चय पर नहीं पहुँच
सका। समाज-सुधार के लिए और देश में कार्य करने के लिए संगठन
की आवश्यकता है कि नहीं? यद्यपि एक बार वह स्वीकार कर लेता है
कि सङ्गठन होना चाहिए, फिर जाकर उसका विरोध करता है। विवाहादि
में विश्वास है परन्तु उसके पाखण्ड में नहीं। तितली में कुछ आर्थिक-
व्यवस्था की ओर ध्यान दिया गया है। प्रसादजी के विचार से जनता
को अर्थ प्रेम की शिक्षा देना उन्हें पशु बनाना है। उससे आत्मा का
निर्वासन होता है। अर्थ-प्रेम से मनुष्य पशु बन जाता है। अर्थ विभा-
जन की उचित व्यवस्था प्राचीन प्रथानुसार ही ठीक होगी। वर्णाश्रम
धर्म को ही उन्होंने उचित समझा है, आजकल की पतितावस्था को
नहीं, परन्तु जिस रूप में पुरातन काल में था। प्रणय में हृदय के सच्चे
आदान-प्रदान को आडम्बरपूर्ण विवाह-संस्कार से अधिक पवित्र
उन्होंने माना है। 'कंकाल' में वह परोक्ष रूप से समाज के आलोचक
तथा सुधारक हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा, वैवाहिक-जीवन का
सुधार और नारी-जगत् का उद्धार उनका ध्येय है।

उपसंहार—उपर्युक्त बातों के होने पर भी उनके उपन्यासों से यह
नहीं झलकता कि वह उपदेशक का काम कर रहे हैं। चरित्रों की गति
विधि से स्वयं आपको ग्लानि और विषाद हो जाता है। स्त्रियों पर
दया आती है। पुरुषों पर रोष आता है और अपने समाज पर चिढ़
उत्पन्न होती है। किसी आदर्श का अभाव ही इनमें आदर्शों की कल्पना
करा देता है। दोनों ही उपन्यास नारी जाति की मूक पुकार हैं।

प्रसादजी यह समझते थे कि उन्हीं के कल्याण से समाज का मङ्गल है। उन्हीं की ओर समाज की दृष्टि जानी चाहिए। चरित्रों का उत्थान अथवा क्रमशः विकास दिखाने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। जिस अवस्था में समाज को उन्होंने पाया, उसी को रेखाङ्कित किया। उनका अभिप्राय था कि प्रत्यक्ष कटु होने पर भी सत्य का प्रकट करना अधिक आवश्यक है और आदर्श की कल्पना मधुर होने पर भी वर्तमान में उतनी आवश्यक नहीं है।

प्रसादजी के उपन्यास (२)

जयशङ्करप्रसाद के दो उपन्यास हैं—(१) कंकाल (२) तितली। एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास वे और लिख रहे थे—इरावती। इसका कथानक बौद्धकालीन है। इसे वे कामायनी महाकाव्य के बाद पूरा करना चाहते थे। लेकिन इसी अर्से में बीमार पड़ गए और यह बीमारी ऐसी लगी कि उन्हें लेकर ही मानी।

मुझे डर है हम प्रसाद-साहित्य को देश, काल और समाज के अन्दर छोटा करके देखने से उसका महत्व ठीक-ठीक नहीं आँक सकेंगे। उन्होंने अपनी रचनाओं में विश्व-मानव की प्रतिष्ठा की है। वह अपनी रचनाओं में समस्त मानव-हृदय का स्पन्दन अंकित करते हैं। यह बात बहुत मनोरञ्जक है कि प्रसाद अपने जीवन में और साहित्य में वर्त्तमान से कितना तटस्थ रहे। लेकिन इससे यह न समझा जाय कि उनमें कर्मण्यता का अभाव था। उनमें वर्त्तमान को सुधारने-सँवारने और संस्कार देने की वेहद कामना थी। अपनी इन भावनाओं को उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रकाश दिया है। इन उपन्यासों के जरिये वे वर्त्तमान से उलझे हैं, इसीलिए इस क्षेत्र में वह रियलिस्ट हो गए हैं।

प्रसाद का रियलिज्म पश्चिमी लेखकों के रियलिज्म से सर्वथा भिन्न है। उनके रियलिज्म की परिभाषा बहुत कुछ प्रेमचन्द के रियलिज्म के करीब है। प्रसाद 'कङ्काल' और 'तितली' के जरिये वर्त्तमान में उलझे हैं, लेकिन उन्होंने अपने को एकदम वर्तमान में मिला नहीं दिया। उनकी दृष्टि तब भी अनन्त की ओर ही है, क्षण भर के लिए पलकें झुका कर पैरों की तरफ देख लिया है। कंकाल में भारत-संघ की योजना है। यह भारत-संघ एक नवीन हिन्दू जाति का सङ्गठन करने

वाला है, जिसका आदर्श प्राचीन है अर्थात् राम, कृष्ण, बुद्ध की आर्य-संस्कृति का प्रचार करना। भारत-संघ श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रता-वाद तथा जातिवाद की उपेक्षा करता है, और मानवता के नाम पर सबों को गले लगाता है। हिन्दुओं का समाज-शासन कठोर हो चला है, क्योंकि दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति का उपयोग करने की क्षमता उसके पास बच रही है और वह अत्याचार प्रत्येक काल और देश के मनुष्यों ने किया है; स्त्रियों की नैसर्गिक-कोमल प्रकृति और उनकी रचना इसका कारण है। भारत-संघ ऋषिवाणी को दुहराता है 'यत्र-नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' और कहता है माता की जाति का आदर करो।

तितली में स्पष्ट रूप से किसी संस्था का निर्माण नहीं है, लेकिन उसके तीनों प्रमुख पात्र—तितली, मधुबन और शैला—बाबा रामनाथ की संस्था की उपज हैं। जमींदार इन्द्रदेव की सहायता से यह लोग ग्राम-सङ्गठन में प्रयत्नशील हैं। इनकी योजना के अनुसार सबसे पहले गाँवों में किसानों का एक बैंक और एक होमियोपैथी का निःशुल्क औषधालय खुलना चाहिए। एक प्रगतिशील पाठशाला भी होनी चाहिए। तीसरे दिन जहाँ गाँव का बाजार लगता है, वहाँ एक अच्छा-सा देहाती बाजार हो, जिसमें करघे, कपड़े, बिसातीखाना और आवश्यक चीजें मिल सकें। गृह-शिल्प को भी प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया जाय। किसानों के खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े बदल कर उनका एक जगह चक बना दिया जाय जिसमें खेती की सुविधा हो। अन्त में जब धामपुर ग्राम एक कृषि-प्रदर्शिनी बन जाता है तो उसका चित्र इस प्रकार है—

साफ-सुथरी सड़कें, नालों पर पुल, करघों की बहुतायत, फूलों के खेत, तरकारियों की पौध, अच्छे-अच्छे फलों के बाग। दो रात्रि-पाठ-शालाएँ भी खुल गई थीं। कृषकों के लिए कथा के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध हो रहा था। अखाड़े और संगीत-मण्डलियों का भी प्रचार हो

रहा था। युवकों में स्वयं-सेवा की भावनाएँ जाग्रत की जा रही थीं।

कंकाल सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ था। तितली का कुछ अंश १९८९ में लिखा गया। उस समय विनोदशङ्कर व्यास की अध्यक्षता में पाक्षिक जागरण निकल रहा था। उसी में पहले-पहल तितली धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। जागरण बन्द होने के साथ ही तितली भी अधूरी रह गई और फिर सं० १९९१ में प्रकाशित हो सकी।

सामुद्रिक ज्वार-भाटे की भाँति समाज और देश के इतिहास में भी उत्थान-पतन की लहरें उठा करती हैं। उत्थान के समय सामाजिक-नियमों, सदाचारों और आदर्शों की सृष्टि होती है। और इस तरह उस समाज के समस्त सदस्यों का व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा विभिन्न मार्गों का अवलम्बन करके एक धारा-विशेष में प्रवाहित होने लगती है। दीपक अपनी बत्ती के जरिये अपने भीतर का सम्पूर्ण तेल खींच कर अपने प्रकाश की लौ एक दिशा-विशेष में अभिमुख करता है। इसी तरह विभिन्न समाज अपने व्यक्तियों की प्रतिभा को सामाजिक नियमों, आचरणों और आदर्शों के जरिये एक राह में खींच कर अपने भीतर एक सतत लौ प्रतिष्ठित करते हैं; दीपक के लौ की भाँति यह लौ भी अनन्त के चरणों में उत्सर्ग।

समय आता है जब यह लौ क्षीण होते-होते काँपने लगती है। सामाजिक कड़ियाँ बिखर जाती हैं और समाज के विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न चेष्टाएँ, विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगती हैं। ऐसे समय नए सिलसिले से समाज का निर्माण करके, उसमें दुबारा तेल भरके, फिर से बत्ती जलाने की जरूरत पड़ती है। जिन लोगों को दिशा-भ्रम हो गया है उन्हें दुत्कारने से काम न चलेगा, बल्कि उनके सहयोग से एक प्लेटफार्म का निर्माण करना चाहिये। संक्षेप में ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर प्रसाद ने कंकाल और तितली की रचना की है।

कंकाल में हमारा ध्यान समाज के उस अङ्ग की ओर आकृष्ट किया जाता है जो एक बार फिसल जाने के कारण सदा के लिए उपेक्षित

हो जाता है। हम उन्हें पतित समझ कर उनकी ओर से अपनी आँखें हटा लेते हैं। धनाढ्य किशोरी जारज पुत्र की जननी है। तारा विधवा रामा की जारज सन्तान है। भीड़ में पिता से विलग होने पर पहले वेश्या के चंगुल में पड़ती है फिर उद्धार होने के पश्चात्, एक पुत्र को जन्म देने के बाद, किशोरी के यहाँ परिचारिका के रूप में रहने लगती है। घंटी वृन्दावन की कुख्यात बाल-विधवा है, गाला हत्या-व्यवसायी बदन-गूजर की लड़की है। उसकी नसों में शाही खून है पुरुष-सम्प्रदाय में श्रीचन्द व्यवसायी हृदय है। समाज में मान-प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए पत्नी किशोरी को अलग रखने की व्यवस्था करता है। दोनों स्त्री-पुरुष की तरह रहने लगते हैं। तारा के गर्भ रह जाता है यह सुन कर मंगल विवाह के ऐन मौके पर तारा को छोड़ कर भाग जाता है। देवनिरञ्जन बाल्यावस्था में एक मनौती के अनुसार साधुओं को अर्पण कर दिया गया। वह एक तरफ किशोरी के साथ गृहस्थ बनता है, दूसरी तरफ साधू होने का ढोंग रचता है। विजय उसका पुत्र है। उछृङ्खल जवानी के आवेश में पहले तारा की तरफ आकृष्ट होता है, फिर घंटी की तरफ, फिर गाला की तरफ।

जयशंकर प्रसाद हमारी मानव भावनाएँ प्रतिष्ठित करके हमें इनके प्रति आकृष्ठ करते हैं और हमारी सहानुभूति जगाते हैं। हम बोध करने लगते हैं वह तो हमारे ही भाई-बन्धु हैं उनकी दुर्बलता हमारी दुर्बलता।

× × ×

उत्तम पात्रों के हृदय की दुर्बलताओं और शुभकामनाओं को लेकर ही कंकाल की विचित्र घटनाएँ घटित हुई हैं। उपन्यास के अन्त में भारतसंघ की स्थापना होती है। इसी सिलसिले में कई जगह कितने अनमोल वाक्य आए हैं—जिन्हें मन चाहता है हृदय-पटल पर अङ्कित करलें। स्थानाभाव के कारण दो ही एक उदाहरण दूँगा। यथा—

यह झूठ है कि किसी विशेष समाज में स्त्रियों को विशेष सुविधा है।

पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, हृदय चाहती है।

× × ×

स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता। स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सरवस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है; यदि वह भी उसका प्रेमी हो।

× × ×

स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।

× × ×

तितली में ग्रामीण जीवन की समस्या है, साथ ही कौटुम्बिक जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रसाद के शब्दों में—मुझे धीरे-धीरे विश्वास हो चला है कि भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की योजना की कड़ियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक सङ्गठन अब नहीं रहा, जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का सञ्चालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था। मैंने जो अध्ययन किया है, उसके बल पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि हिन्दू-समाज की बहुत-सी दुर्बलताएँ इस खिचड़ी कानून के कारण हैं। क्या इनका पुनर्निर्माण नहीं हो सकता? प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुखदायी हो रहा है।

तितली में दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। एक तरफ ग्राम-सङ्गठन में लग्न जमींदार इन्द्रदेव की कहानी है। आंग्ल युवती शैला इन्द्रदेव के जरिये भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट होती है और उसे अपनाने की चेष्टा करती है। शैला के कारण इन्द्रदेव के गृह-जीवन में संघर्ष उपस्थित होता है। अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है। दूसरी तरफ तितली और मधुवन की कहानी है। तितली के सम्बन्ध में, शैला की

भाँति हम भी उसका हाथ पकड़ कर कह सकते है—बहन ! यथार्थ में तुम बाबाजी (बाबा रामनाथ की बेटी) हो। तितली का साहस देख कर पाठक के मन में उसके प्रति श्रद्धा जगता है। तितली का बचपन अकाल में बीता, शैशव बिना दुलार का। यौवन के आरम्भ में अपने बाल-सहचर 'मधुआ' से थोड़ा प्रणय-मधु मिला, फिर वही जीवन-संघर्ष। जब मधुआ जेल चला जाता है, तितली के रहने और खाने-पाने का ठिकाना नहीं रहता। वह उन तीन लड़कियों को पालती है, जिन्हें लोग व्यभिचार की सन्तान कह, उनसे घृणा करते थे। मधुआ इन्द्रदेव की भाँति मानव-स्वभाव के गुण-दोषों से पूर्ण है। उसमें महत् कामना है। वह अपने वातावरण में संघर्ष पाता है। खून के अपराध में जेल जाता है। लेकिन अन्त में तितली की भाँति हम भी देखते हैं कि जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुवन विश्राम-शिखर के द्वार पर खड़ा है।

कंकाल की भाँति तितली में कितने सुन्दर वाक्य हैं, जिन्हें याद कर लेने की इच्छा उठती है।

तितली और कंकाल—दोनों उपन्यासों में प्रसाद अपना मन्तव्य प्रकाशित करने के लिए घटनाओं का सहारा लेते हैं। कुछ उपन्यास लेखकों में इतनी क्षमता होती है कि वे घटनाओं को बाद दे सकते हैं। पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्टडी में उन्हें बहुत मसाला मिलता है। घटनाएँ तो मनोभावों की शारीरिक चेष्टामात्र हैं। इस तरह पाठक भी उपन्यास घटनाओं को इसी अनुपात में देखता है। प्रसाद के उपन्यासों के चरित्र घटनाओं के सहारे मन पर प्रस्फुटित होते हैं।

प्रसाद एक कुशल नाटककार हैं, इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में नाटक-तत्व का अच्छा सामञ्जस्य किया है। प्रेमचन्द अपने पहले के उपन्यासों में पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति समझाने के लिए स्वगत कथोपकथन का आश्रय लेते हैं, परन्तु बाद के उपन्यासों में उन्होंने भी नाटकीय ढङ्ग का स्वागत किया है। प्रसाद अपने पहले उपन्यास कङ्काल

में ही सफलता-पूर्वक नाटकीय-तत्व का सम्मिश्रण कर सके हैं। वह थोड़ा-सा वर्णन करते हैं, फिर पात्र स्वयं वार्त्तालाप-द्वारा कथानक को आगे बढ़ाने में समर्थ हो जाता है।

कवि होने के कारण प्रसाद के वर्णन में इतनी तीव्रता आजाती है कि पाठक झूमने लगता है। उदाहरण के लिए—

जूही की प्यालियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था।

—कंकाल

घंटी के कपोलों में हँसते समय गड्ढे पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारती और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चञ्चलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाइयाँ लेती तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ में छिप जाती तब भी भौंहें चला करतीं।

कङ्काल

शैला ने अपनी भोली आँखों को ऊपर उठाया। सामने से सूर्य की पीली किरणों ने उन्हें धक्का दिया; वे फिर नीचे झुक गईं।

—तितली

फिर (शैला ने) अपने होठों को गर्म चाय में डुबो दिया जैसे उन्हें हँसने का दण्ड मिला हो।

—तितली

प्रसाद एक दृश्य को चित्रित करने के लिए किस भाँति शब्द-जाल की रचना करते हैं।

प्रसाद मुख्यतः वार्त्तालाप-द्वारा उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाते हैं। इस तरह स्वभावतः उपन्यासों में एक कमजोरी भी आ जाती है। जिन उपन्यासों में कथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त वर्णन के साथ प्रस्तुत की जाती है। उनमें वार्त्तालाप का अंश एक विशेषता प्राप्त कर लेता है। मुख्यतः वार्त्तालाप भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों पर ही प्रकाश डालता है और इस तरह उसका एक विशेष आकर्षण रहता

है। वह कथानक को अप्रधान-रूप में आगे बढ़ाता है। इसके विपरीत नाटकीय ढङ्ग के उपन्यासों में वार्त्तालाप के कुछ अंश का उपयोग कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है।

टेकनिक के लिहाज से तितली कङ्काल से श्रेष्ठ है। कङ्काल में विविध घटनाओं की जड़ें पात्रों के हृदय में गहरी नहीं जा सकीं। घटना के पश्चात्, उस घटना के साथ पात्र की मनोवैज्ञानिक-स्थिति का मेल बैठाने के लिए कुछ शब्दों की आवश्यकता पड़ती है।

कथावस्तु के लिहाज से यह बताना कठिन है कि दोनों उपन्यासों में कौन श्रेष्ठ है। दोनों में वर्त्तमान की कुछ ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। सिर्फ यह बात खटकती है कि जब प्रसाद समाज में इतनी क्रान्ति लाना चाहते हैं, तो वे राजनीतिक समस्या से कैसे विलग रह सके। क्योंकि सामाजिक समस्याओं का बहुत कुछ हल राजनीतिक समस्याओं में है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वह किसी एक प्रान्त की नहीं, समस्त राष्ट्र की है। प्रसाद के उपन्यास भी समस्त राष्ट्र के हैं। तितली में गाँवों की समस्या है, जो समस्त राष्ट्र की है। यह देखकर खुशी होती है कि आज गाँवों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसा कार्यक्रम प्रसाद बहुत पहले पेश कर चुके हैं। कङ्काल में समाज की ठोकरों की धूल माथे से लगाने वाले व्यक्तियों द्वारा ही भारत संघ संस्था की योजना है।

'इरावती'–एक अध्ययन'

'इरावती' प्रसाद जी का तीसरा अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। 'कङ्काल' और 'तितली' से यह सर्वथा भिन्न है। कंकाल और तितली में वर्तमान कालीन समाज के उत्थान और पतन का चित्र खींचा गया है। किन्तु इरावती में आज से दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य के क्षय तथा शुंग-वंश की प्रारम्भ कालीन नष्ट-भ्रष्ट संस्कृति तथा सामाजिक वातावरण का चित्र अंकित किया गया है।

'इरावती' ऐतिहासिक उपन्यास है। अतः उपन्यास की समीक्षा करते समय सर्व प्रथम इसके ऐतिहासिक तथ्य की ओर दृष्टिपात कर लेना अनिवार्य होगा। किन्तु इतिहास का अवलोकन करने पर इरावती की अधिकाँश घटनायें असंगत प्रतीत होने लगती है। अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि प्रसाद जी इतने बड़े इतिहासज्ञ होते हुए भी इरावती में ऐसी असंगत एवं भद्दी भूलें कर बैठे। उपन्यास के अनुसार मौर्य के सम्राट शतधनुष की मृत्यु के पश्चात् मौर्य सिंहासन पर बृहस्पति मित्र मौर्य आरूढ़ होते हैं। जो कि इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल बैठते हैं। इतिहास के अनुसार मौर्य वंश में बृहस्पति मित्र नामका कोई भी मौर्य सम्राट नहीं हुआ है। सम्राट संप्रति के अनंतर केवल चार ही अन्य राजा मौर्य सिंहासन पर बैठे थे। और अन्तिम राजा ब्रहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ईसवी पूर्व में मार कर शुंग-साम्राज्य की नींव डाली। संप्रति के बाद जिन चार राजाओं की सूची उपलब्ध होती है वह निम्न प्रकार है।

सप्रति	(२१६—२०७ ई० पू०)
शालिशूक	(२०७—२०६ ई० पू०)
देववर्मा	(२०६—१९९ ई० पू०)
शत धनुष	(१९९—१९१ ई० पू०)
बृहद्रथ	(१९१—१८४ ई० पू०)

पुराणों द्वारा भी बृहस्पतिमित्र का मौर्य सम्राट होना प्रमाणित नहीं होता। वायु पुराण में तो समस्त मौर्यवंशी राजाओं के नाम भी गिनाये हैं। इसमें नौ ही राजा बतलाये गये हैं। मत्स्यपुराण तथा विष्णुपुराण में दस राजाओं का उल्लेख है, वायु पुराण में शालिशूक का नाम छूट गया है। किन्तु 'गर्ग संहिता' में संप्रति के बाद शालिशूक को ही उसका उत्तराधिकारी बतलाया गया है। इस प्रकार बृहस्पतिमित्र का कहीं मौर्य सम्राट होने का उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रमाणित होता है कि शतधनुष के पश्चात् बृहस्पति मित्र नाम का कोई भी राजा मौर्य सिंहासन पर नहीं बैठा। 'इरावती' में शतधनुष के बाद बृहस्पतिमित्र को मौर्यवंशी राजा बतलाकर मौर्य सिंहासन पर बैठाना लेखक की भूल है।

यदि किसी प्रकार शतधनुष के अनतंर बृहस्पतिमित्र का मौर्यवंशी राजा होना स्वीकार भी कर लिया जाय, तब तो 'इरावती' की अन्य ऐतिहासिक घटनायें असंगत ही प्रमाणित होने लग जायँगी। मौर्य-सम्राट बृहस्पतिमित्र के समक्ष दिमित्र या डिमित तथा कलिंग-सम्राट खारवेल जैन के मगध पर आक्रमण और अग्रजिन की प्रतिमा आदि के चले जाने की घटनायें इतिहास असम्मत हैं। शतधनुष का राज्यकाल १६८ से १६१ ई० पू० के बाद माना गया है। अतः बृहस्पतिमित्र का राज्यकाल १६१ ई० पू० के बाद माना जायगा। 'इरावती' के लेखक के मतानुसार बृहस्पतिमित्र मौर्य के समय में ही डिमित्र तथा खारवेल के मगध पर आक्रमण हुए थे। किन्तु यवन सम्राट् दिमित्र तथा सम्राट् खारवेल जैन का आक्रमण काल १७५ ई० पूर्व माना जाता है, जबकि मगध के सिंहासन पर शुंग वंश का अधिकार हो चुका था।

खण्डगिरि पर्वत की हाथीगुफा में उपलब्ध खारवेल के एक शिलालेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि जब सम्राट खारवेल ने पहला आक्रमण मगध पर किया तो यवन सम्राट डिमित जो विजय प्राप्त करता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था, डर कर मथुरा की ओर भाग गया।

डिमित या डिमित्र का आक्रमण काल १७५ ई० पू० माना गया है। यही पतंजलि का भी समय है। पतंजलि के महाभाष्य में यवन-राज के आक्रमण की चर्चा उपलब्ध होती है—'अरुणद् यवनः साकेत' 'अरुद्‌यवनो माध्यमिका' (यवनों ने साकेत को घेरा, यवनों ने माध्य-मिका—चित्तौड़ के किले के पास तांबाबती नगरी—को घेरा)।

वृहस्पतिमित्र का काल १६२–३ ई० पू० था। और दिमित्र तथा खारवेल का मगध पर आक्रमण १७५ ई० पू० था। पुनः यह कैसे माना जा सकता है कि वृहस्पतिमित्र के काल में ही उपर्युक्त मगध पर आक्रमण हुए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वृहस्पति-मित्र मौर्यवंश का राजा नहीं था। और न वह शतधनुष के बाद मौर्य सिंहासन पर बैठा ही था।

तब यह स्वभावतः ही प्रश्न उठता है कि वृहस्पति-मित्र कौन था? तथा इतिहास में उसका क्या समय माना गया है?

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल का यह मत पठनीय है—"मैंने पुष्यमित्र और वृहस्पतिमित्र का एक होना बतलाया है। क्योंकि अग्निमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी कोटि और उसी रूप का सिक्का बहसातीमित्र—वृहस्पतिमित्र—का मिलता है। वहस्पतिमित्र के सिक्के अग्निमित्र के सिक्कों से पहले के माने जाते हैं।"

दूसरे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू कामताप्रसाद जैन ने इस सम्बन्ध में अपना दूसरा ही मत स्थापित किया है—

"अपने लड़कों द्वारा उन्होंने—पुष्यमित्र ने—वैराज्य स्थापित किया; अर्थात् स्वयं वे राजा न हुए उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्म के नाम से स्वयं अपने को सिर्फ सेनापति कहते हुए राज्य करने लगे। मगध का प्रान्तिक शासक पुष्यमित्र के आठ बेटों में से एक अर्थात् वृहस्पतिमित्र नियुक्त हुआ।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने भी बाद में उपर्युक्त जैन जी के मत को स्वीकार कर लिया था। पुष्यमित्र द्वारा वैराग्य स्थापित किये जाने की बात वायुपुराण तथा कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक द्वारा भी पुष्ट होती है।

उपर्युक्त विवेचनों से यह तात्पर्य निकलता है कि वृहस्पतिमित्र पुष्यमित्र के आठ बेटों में एक था। जो मगध का प्रान्तिक शासक रहा। वह शुंग-वंशी राजा था। और ऐसा मान लेने पर कलिंग सम्राट खारवेल तथा दिमित्र के आक्रमण युक्ति संगत प्रमाणित होते हैं। अतः 'इरावती' के लेखक की यह बात नहीं मानी जा सकती कि वृहस्पतिमित्र, शतधनुष के पश्चात् मौर्य-सिंहासन पर बैठने वाला मौर्यवंशी राजा था।

इसके सिवाय 'इरावती' में कुछ और भी फुटकर ऐतिहासिक त्रुटियाँ हैं।

खंडगिरि के शिला लेख द्वारा यह ज्ञात होता है कि सम्राट खारवेल ने दो बार मगध पर आक्रमण किये। प्रथम आक्रमण में उन्होंने गोरथगिरि को जीत कर, राजगृह को घेर लिया। इसी समय यवन सम्राट दिमित्र खारवेल के पराक्रम से डर कर भागा है। दूसरा आक्रमण मगध पर खारवेल ने चार वर्ष बाद फिर किया। इसमें वे मगध के सुगाँग प्रासाद तक पहुँच गये। तथा वृहस्पतिमित्र से अपने पैरों की वन्दना करवाई। अग्रजिन की मूर्ति भी अन्यान्य सामग्रियों के साथ कलिंग ले गये।

किन्तु 'इरावती' के लेखक ने दोनों ही घटनाओं का एक साथ होना बतलाया है। यद्यपि दोनों घटनाओं के बीच में चार वर्ष का अन्तर था।

दूसरे शिलालेख द्वारा "कलिंग से अग्रजिन की मूर्ति नन्दवंश के सम्राट नन्दवर्द्धन ले गये थे" यह प्रमाणित होता है। किन्तु 'इरावती' में कलिंग-विजय में अशोक द्वारा मूर्ति के लाये जाने का उल्लेख है—"स्वर्ण की जिनमूर्ति, जो कलिंग की पूज्य प्रतिमा है, जिसे स्वर्गीय

सम्राट अशोक ले आये थे, उसी के लिये मन्दिर का निर्माण हो चुका है, प्रतिमा को देनें की कृपा अब होनी चाहिये, सम्राट! दूत ने कहा।"

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से इरावती त्रुटिपूर्ण उपन्यास है। अब हम उसे साहित्यिक दृष्टि से देखने का प्रयास करेंगे!

उपन्यास की नायिका इरावती तथा नायक अग्निमित्र दोनों का ही चरित्र प्रेम की मार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत होने के कारण अधिक उज्ज्वल हो गया है।

लेखक ने उपन्यास लिखने के पूर्व अपने कुछ संकेत उसके सम्बन्ध में बना लिये थे। उनका यहाँ उल्लेख कर देना मैं अनुचित न समझूँगा। क्योंकि ये संकेत पात्रों के चरित्र-चित्रण में अधिक सहायक प्रतीत होंगे।

(१) मणिमाला में वेश्याभाव और इरावती में कुलवधू प्रवृत्ति, दोनों का अन्तर।

लेखक ने यहाँ दोनों की मनोभावनाओं के चित्रण की ओर संकेत किया है। इरावती महाकाल के मन्दिर की नर्तकी थी, किन्तु फिर भी उसमें कुलवधू की ही प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। बृहस्पतिमित्र के प्रेम को वह घृणा की दृष्टि से देखती है। अग्निमित्र को ही एक मात्र अपना प्रेमी समझती है। मणिमाला धनदत्त श्रेष्ठी की कुलवधू थी किन्तु फिर भी उसकी प्रवृत्तियाँ वेश्यापन का रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि मणिमाला के चरित्र में अधूरे उपन्यास द्वारा ही वेश्याभाव प्रकट नहीं हो जाता है। किन्तु फिर भी वहाँ तक उसके चरित्र पर सन्देह होने लगता है। लेखक शायद आगे चलकर उसमें वेश्याभाव का स्पष्टीकरण कर देता।

(२) खारवेल का रत्न खरीदने आना और कालिन्दी के चक्र में फँस जाना।

धनदत्त श्रेष्ठी के यहाँ खारवेल अग्रजिन की प्रतिमा के लिये रत्न खरीदने को उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में आता है। वहीं कालिन्दी से उसका सामना होता है। यद्यपि उसके कालिन्दी के चक्र में फँस जाने का वहाँ स्पष्टीकरण नहीं होता है, किन्तु कालिन्दी और स्वस्तिक दल के षडयन्त्रों को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह आगे चलकर अवश्य ही उनके चक्र में फँस गया होगा। उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में धनदत्त श्रेष्ठी के घर पर खारवेल, कालिन्दी की ओर आकर्षित होता दिखाई देता है तथा कालिन्दी उसकी ओर। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः लेखक आगे चलकर दोनों का विवाह भी करा देता। क्योंकि कालिन्दी नन्दवंश की राजकुमारी थी। नन्दवंश जैन था, इस तथ्य को कई इतिहासज्ञों ने स्वीकार किया है। खारवेल भी जैन था। अतः दोनों का परस्पर विवाह यदि लेखक कराना भी चाहता रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं था।

(३) ब्रह्मचारी और आजीवक का विवाद—आनन्द के सम्बन्ध में।

लेखक शैव—आनन्दवादी था। उसने प्रायः सम्पूर्ण अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर शैवमत का प्रतिपादन किया है। और यही कारण है कि इरावती में भी इसके लिये एक पात्र नियुक्त किया गया। वह है ब्रह्मचारी। कहना होगा कि ब्रह्मचारी के एक-एक तर्क में शैव लेखक का बौद्धिक व्यक्तित्व अन्तर्निहित है। आनन्दवाद में संसार की साम्राज्य लिप्साओं या अन्य किसी भी भयानक से भी भयानक विभीषिकाओं का कोई मूल्य नहीं है। यही कारण है कि ब्रह्मचारी मगध पर छाई हुई प्रलय घटाओं से भी किंचित भीत नहीं होता। उसका मार्ग ही दूसरा है।

(४) बौद्ध स्थविर की आज्ञा, युद्ध न होना चाहिये, छल से सब पराभूत किये जा सकते हैं। लड़े भी तो जैन खारवेल और यवन। मगध के धार्मिक बौद्ध तटस्थ।

यह एक ऐसा संकेत है, जिससे स्पष्ट होता है कि संभवतः

लेखक आगे चलकर उपन्यास में पुनः ऐतिहासिक उलट-फेर करता,
और इस प्रकार मनगढ़न्त कल्पनाओं द्वारा घटनाओं का आयोजन
करता। ऊपर मैं सिद्ध कर चुका हूँ कि यह उपन्यास मौर्यकालीन नहीं
किन्तु शुंगकालीन है। बृहस्पतिमित्र शुंगवंशी राजा था, और शुंग-
वंश ब्राह्मण धर्म का कट्टर अनुयायी था। कहते हैं कि पुष्यमित्र ने
बृहद्रथ को मारने के पश्चात् बौद्ध धर्म पर अधिक अत्याचार किये थे।
तिब्बत के बौद्ध लेखक तारानाथ ने लिखा है—'पुष्यमित्र ने मध्यदेश
से लेकर जालन्धर तक के बौद्ध मठ जलवा दिये और कई विद्वान्
भिक्षुओं को मरवा डाला।' कहा जाता है कि उसने पाटलिपुत्र के
कुक्कुटाराम को भी जलवा दिया था। साकल प्रदेशों में 'पंजाब में'
रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला था।

यद्यपि उपर्युक्त कथन अत्युक्ति भी कहा जा सकता है किन्तु फिर
भी कुछ न कुछ तथ्य उसमें अनिवार्य ही रहा होगा। धर्म-द्वेष के
कारण ऐसा अत्याचार करना असंभव नहीं कहा जा सकता।

पुष्यमित्रादि शुंग वंश का बौद्धों के प्रति ऐसा बर्ताव रहने पर
यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि शुंग राज्य में बौद्धस्थविर
चाणक्य जैसा एकाधिपत्य अपना रख सका होगा, और पुष्यमित्रादि
उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते रहे होंगे।

(५) कालिन्दी किसी तरह खारवेल से इरावती का सामना करा
देती है। वह गन्धर्व वेद का ज्ञाता इरावती का नृत्य देखने का हठ
करता है।

इरावती भावपूर्ण कलात्मक नृत्य करने वाली नर्तकी थी। खारवेल
भी कुशल गन्धर्व वेद का ज्ञाता था। इन दोनों ही बातों की पुष्टि
क्रमशः मालविकाग्निमित्र नाटक तथा खण्डगिरि के शिलालेख द्वारा
होती है। उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद में उपर्युक्त संकेत का स्पष्टी-
करण भी हो जाता है। इस प्रकार यह लेखक के पाँच संकेत थे।

नारी पात्रों में मानसिक द्वन्द्व तथा प्रतिहिंसा की भावना द्वारा नारी के कोमल हृदय में कठोरता ला उपस्थित करना लेखक की प्रधान विशेषता थी। कहानियों में मधूलिका, लैला तथा चम्पा आदि के चरित्रों में उसका काफ़ी उज्ज्वल रूप भी स्पष्ट हो चुका है। 'इरावती' में इरावती और कालिन्दी का मानसिक द्वन्द्व लेखक की उत्कृष्ट कला की अभिव्यक्ति का परिचायक है। उनके हृदय में एक प्रतिहिंसा की ज्वाला धधकती रहती है। किन्तु एक अज्ञात प्रेम का उन्माद उसे आच्छादित रखता है। कालिन्दी का मानसिक द्वन्द्व देखिये—

"हाँ! मैं सावधान हूँ अग्निमित्र! नन्द की निधि मेरी सम्पत्ति है, और होगी। किन्तु तुम न जाने कहाँ से बीच में आ पड़े। मैं स्त्री हूं! आह! तुम अग्निमित्र! अब तक जीवित न रहते परन्तु मैं अपने हृदय से हारी हूं। मैं राजप्रेयसी! राजनन्दिनी! अनुग्रह की क्षमता नहीं खो सकी हूँ।"

लेखक इतिहास को लेकर इस उपन्यास के पूर्व साहित्यिक क्षेत्र में नाटककार के रूप में उपस्थित हुआ था। उसकी ऐतिहासिकता नाटकीय शैली द्वारा ही अधिक परिमार्जित हुई थी। यही कारण है कि इरावती भाषा भाव तथा शैली की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' के जितनी सन्निकट है उतनी 'कंकाल' और 'तितली' के नहीं। उसका अधिकांश भाग कथोपकथन द्वारा ही आगे बढ़ा है। किन्तु इरावती की भाषा चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट एवं संस्कृतिमयी हो गई है। प्रतिद्युति, उपोसथागार, प्रवारणा, आन्तर्वंशिक इत्यादि कई ऐसे शब्द आये हैं जिनके अर्थ साधारणतया शीघ्र ही नहीं जाने जा सकते। कहना अनुचित न होगा कि इरावती की भाषा चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त जैसी मधुर एवं सरल नहीं है। भाषा का जो ओज चन्द्रगुप्त में उपलब्ध होता है वह इसमें दुर्लभ है। फिर भी साधारणतया भाषा अच्छी ही है।

कथानक की दृष्टि से इसमें कंकालादि की अपेक्षा एक विशेषता है।

यह है घटनाबाहुल्य का अभाव। उसका एक कारण भी है। कंकालादि में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता है, और इरावती में नाटकीय 'कथोप-कथनात्मक' शैली की। इसीलिये कंकालादि में घटनाबाहुल्य है तथा इसमें उसका अभाव।

दूसरे कंकाल और तितली में कई स्थानों पर कथानक छोटी-छोटी घटनाओं का शृंखलात्मक रूप धारण करता हुआ आगे बढ़ता है। इरावती में इस बात का अभाव है। इसमें कथानक कहीं भी जुड़ा हुआ सा नहीं प्रतीत होता। किन्तु एक ही ठोस रूप में आदि से अन्त तक चलता है।

संक्षेप में, यद्यपि 'इरावती' ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्य ही त्रुटि-पूर्ण उपन्यास है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह एक कलापूर्ण उपन्यास है। यदि उपन्यास पूरा होता तो शायद उसका साहित्यिक मूल्य अधिक बढ़ जाता।

प्रसादजी की कहानी-कला

प्रसादजी पारस थे। साहित्य के जिस रूप में उन्होंने हाथ लगाया उसे ही जगमगा दिया। उनके काव्य को कौन सिर नहीं झुकाता, उनके नाटकों ने हिन्दी में युग-परिवर्त्तन किया। यही दशा कहानी क्षेत्र में है। प्रसादजी ने जिस समय लिखना आरम्भ किया उस समय हिन्दी पर बंगला का आतङ्क था। नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की धूम थी। काव्य-कहानी में रवीन्द्र की। प्रसादजी ने बंगला की इन लहरों को झेला, और उनके कलाकार ने मौलिक रचनायें देकर उसके विचार और मानस के धरातल को ऊँचा कर दिया। बंगला के लिए जो लहक थी, उसका शमन प्रसादजी ने किया—वह प्रायः उसी कोटि की वस्तुएँ देकर, जिसकी बंगला दे रही थी।

प्रसादजी की कहानियों का धरातल बहुत ऊँचा है। धरातल की ऊँचाई क्या? जैसे वे 'ममता' पर लिख रहे हैं। ममता विधवा है—उसका जीवन दुःख पूर्ण होगा, वह दुःख सहकर भी अपने सतीत्व की रक्षा करेगी—उसके सामने एक नहीं अनेकों प्रलोभन और संकट आ सकते हैं, पर वह डिगती नहीं, जहाँ है वहीं अटल है। ऐसी 'ममता' यदि हो तो उसका धरातल साधारण होगा, पर प्रसादजी की 'ममता' यह सब 'साधारण' लिए हुए इससे ऊपर है। वह वैधव्य की समस्या लेकर नहीं, उसके सहारे मानवत्व के चिर प्रश्नों को उपस्थित करने के लिए उपस्थित हुई है। यह उसमें धरातल की ऊँचाई है। साधारण सामाजिक व्यवहार और आचार से उठकर वह कहानी मौलिक समस्याओं में परिणति पा लेती है।

दूसरा उदाहरण लें सालवती। प्राचीन काल में जनपद कल्याणी के रूप तो उसमें स्पष्ट किया ही गया है, पर वह प्रसादजी की देन कहाँ

प्रकट करता है ? यथार्थ पुरुषत्व से स्त्रीत्व के खिंचाव की विफलता के रहस्य का उद्घाटन करने में तथा स्वर्ण, स्वतन्त्र-विचार-तन्त्रता और अनुग्रह अस्वीकार करने के दम्भ की एक सीमा उभार कर रख देने में।

ऐसे ही देवरथ की ऐतिहासिक कहानी में उसके साधारण ऐतिहासिक कथा-विन्यास के ऊपर प्रसादजी की देन सुजाता के हृदय-निर्माण में है, जिसके द्वारा धर्म का निम्न धरातल ही खुल कर नहीं आता, मानव के मौन-प्रश्न पावन रूप में झाँकने लगते हैं, और हमारे समस्त सामाजिक संविधान की परीक्षा करने के लिये अग्रसर हो उठते हैं।

धरातल को इस ऊँचाई में ले जाने में लेखक का मानव-स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन और समस्यागत अनुभूति सहायक होते हैं। प्रसाद तो प्रधानतः मानव-सौन्दर्य की अनुभूति के कवि और लेखक हैं, उनकी रचना में अद्भुत-आश्रित विस्मय (Wonder) से करुणा है। जिस सौन्दर्य को उन्होंने अपनाया है, वह मानवगत यथार्थ सौन्दर्य है। वे उस सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं फिर उसके अनुकूल इतिहास-पुराण आदि से, नहीं तो कल्पना से ही, सामग्री और कथानक जुटा लेते हैं। विस्मयकारी सौन्दर्य अगति देता है, मनुष्य अवाक् है और देख रहा है, या उसके गीत गा रहा है; एक उत्तेजक सौन्दर्य होता है, वह गति को अपने में डुबा लेता है। करुणा-केन्द्रित सौन्दर्य मानव को चैतन्य कर देता है, और प्रगति के लिये ललकारता है। इसी करुणा की ललकार 'प्रसादजी' की प्रत्येक कहानी में मिलती है। कथानक के सूत्र बढ़ते और उलझते-सुलझते वहीं विलीन हो जाते हैं जहाँ इस मानव-सौन्दर्य की झिलमिल उद्मुदित हो उठती है। सालवती चलती है, विनम्रदर्प से बड़े उत्थान के साथ मरीचिका में फँसती है और शैली के यथार्थ सौन्दर्य की प्राप्ति उसे अभय में होती है। वहीं कहानी रुक जाती है और कहानी से अधिक यह अनुभूत सौन्दर्य हमें अभिभूत कर लेता है।

यह सौन्दर्य-दर्शन जैसे सत्य-दर्शन ही हो; इस दर्शन की परिभाषा

नहीं हो सकती, गूँगे का गुड़ सा लगता है और प्रश्न ज्यों का त्यों नहीं, पहिले से भी प्रबल होकर हमारे सामने झूलने लगता है। कहानीकार हमको उत्तर के पास लेजाकर छोड़ देता है। इस प्रकार कहानी में प्रश्न ही प्रश्न दिखाई पड़ता है। हल रखते हुए भी प्रश्न को प्रमुखता दे देने में ही प्रसादजी की टेकनीक की विशेषता है।

फलतः प्रसादजी की कहानी की टेकनीक का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि उसमें बीज और विकास की अवस्था में नहीं, कहानी में जैसे एक विन्दु विशद होकर उपस्थित हो गया है, और वह विशदरूप अपने में सौन्दर्य लिये उस विन्दु से ही पूछता है 'ओ तू! मुझे आइना बना कर अपना रूप देख।' सालवती में स्वर्ण की चाह, अनुग्रह से बचना, स्वतन्त्र-विचार-तन्त्र की आस्था विशद होकर वैश्यात्व और जनपदीय दुर्बलता और भीषणताओं में प्रतिपादित हो उठता है, और यह विशद-दर्शन उस विन्दु से पूछता है—'बोल अब तेरा क्या?' वह विन्दु जब नितान्त क्षुब्ध होकर मानव-करुणा का शुद्ध पात्र बन जाता है, तभी पटाक्षेप। ऐसे स्थान पर विराम होजाने से हृदय का तन्त्र एक दम झनकार उठता है, अथवा हूक उठता है। तभी प्रेमचन्दजी ने कहा था कि प्रसादजी की कहानियों का अन्त,

> 'अपने ढङ्ग का निराला होता है—बड़ा ही भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक और सहसा·· पाठक का मन झकझोर उठता है,······वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है···।'

कहानी के इस तन्त्र (Technique) के साथ प्रसादजी ने एक और विशेषता रखी है। वह विशेषता ध्वन्यात्मक शैली का ही एक पूर्ण विकसित रूप है। कहानी के आरम्भ से ही कहीं यह लगने लगता है कि कहानीकार इन पात्रों को अपने भावों की भाषा बनाकर जो कह रहा है वह तो निमित्त मात्र है, वह जो कहना चाहता है वह तो कुछ

और ही है—तब कहानी रूपक-सी हो जाती है। 'आकाशदीप' में यह रूपक (Allegory) बहुत ही पूर्णता के साथ है। वहाँ इन्द्रियाँ दस्यु हैं, मन और बुद्धि बन्दी हो रहे हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण कहानी आध्यात्मिक मनोविज्ञान की व्याख्या कर देती है। इस ध्वनन्यात्मक अर्थ को कहानीकार ने इतनी सफलता से कहानी में समास किया है कि साधारणतः यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि 'आकाशदीप' रूपक है। हम तो कहानी को समझते हैं और उसका मूर्तरूप ही हमें यथार्थ विदित होता है।

इन सब तत्वों के कारण जहाँ यह सत्य है कि कहानी कहानी की भाँति ही हमारे समक्ष आती है, वहाँ यह भी सच है कि एक गूँज-सी और एक हूक-सी बड़ी प्रबलता से हमें स्पन्दित कर देती है; कहानी अन्तिम स्थिति में पहुँचकर जैसे किसी रहस्य में परिणति पा लेती है। इससे एक रहस्यवादी प्रत्यय कहानी में लग जाता है। यह प्रत्यय ही बहुतों को भ्रम में डाल देता है और प्रसादजी के यथार्थ लोक को अलौकिकता का आवरण पहना देता है।

प्रसादजी की कहानी का पृष्ठपट बहुत विस्तृत होता है—समय की दृष्टि से भी और कर्तृत्व की दृष्टि से भी। सालवती में उदाहरणार्थ पूरा एक युग का युग समा गया है, धवल यश, उनका स्वर्ण-प्रेम, उनका कुल-अभिमान, उनकी मृत्यु, सालवती और कुलपुत्रों की भेंट, वसन्तोत्सव, जनपद की व्यवस्था, जनपद कल्याणी का निर्वाचन-युद्ध, सालवती के पुत्रोत्पत्ति, अभय का युद्ध-अभिमान, विजय और वैशाली लौटना, मार्ग में शिशु मिलना, आठ वर्ष व्यतीत हो जाना, फिर जनपद कल्याणी के निर्वाचन का अवसर, सालवती का कुछ निश्चय—शस्त्रागार में जनपद कल्याणी के चले जाने का विरोध, सालवती को अभय का स्वीकार करना—इतना सब कुछ उपन्यास जैसा वास्तव्य इस कहानी में है। यही नहीं विविध दार्शनिक वार्तायें और विवाद भी इस छोटी कहानी में समाये हुए हैं। पात्रों की भी कम भीड़ नहीं।

यद्यपि इतनी भीड़ कुछ अन्य कहानियों में नहीं भी है जैसे 'मधुआ' में, पर कहानी का पृष्ठपट छोटा करते-करते भी बड़ा हो गया है। कथा-सूत्र में बीज-विकास-फलागम की भारतीय नाटक-प्रणाली का अनुमोदन भी हुआ लगता है। सालवती में ही जैसे पहले अभय का सालवती को उपहार देना बीज होगा। अभय और सालवती का विविध संघर्षों में होकर चलना विकास और अन्त में सालवती का अभय को ग्रहण करना फलागम। सालवती तो एक उदाहरण है। उनकी कहानियों में यह तन्त्र ढूँढने से विद्यमान ही मिलेगा। इसके साथ संघर्ष भी शून्य नहीं। वह अन्तर-अन्तर में अत्यन्त प्रबल रहता है—किसी भी कहानी को क्यों न लिया जाय। 'देवरथ' को देखिये। आर्यमित्र और सुजाता तथा संघस्थविर के घोर अन्तःसंघर्ष पर ही कहानी टिकी हुई है। सालवती में भी अभय और सालवती का अन्तर्द्वन्द्व कितना भीषण है। किन्तु इतनी विशेषता, और यह विविधता सब प्रसादजी के अपने कहानी-तन्त्र की अंगभूत विशेषतायें हैं और ये सब मिल कर, सिमिट कर एक विन्दु में समाई हुई रहती हैं, और इतने बड़े पृष्ठ-पट पर केवल एक बड़ा विन्दु ही कहानी की भाँति चित्रित दीखता है।

उनके इसी तन्त्र (Technique) के कारण उनके पात्रों में एक अनोखापन आ जाता है। किसी ने ठीक कहा है:—

"नूरी का प्रेमी 'याकूब', 'वेला' का उपासक 'गोली' और 'सालवती' का 'अभय' प्रसादजी के मस्तिष्क ही में जन्म ले सकते थे।" उनके पात्रों में वह अनोखापन क्यों ?

स्थूल रूप से इन पात्रों में दो बातें मिलती हैं, एक तो उनके व्यक्तित्व का शक्तिशाली केन्द्र दूसरे उस केन्द्र में वैधानिक (Sensitivity) असंवेदन शीलता। केन्द्र उनका कभी विचलित नहीं होता इसलिए उनमें एक चारित्रिक दृढ़ता के दर्शन होते हैं, यहाँ तक कि वह पात्र 'आदर्श' की सीमा तक पहुँचा हुआ दीखता है, इसको आवृत्त किये रहती है वह वैद्युतिक संकोचन-शीलता—जो बाहर आचार

में 'शील' का पर्याय बन जाती है। उनके पात्र, फलतः शील-शिष्टता की मूर्ति लगते हैं। वह शील संयोग का परिणाम है, शील के विश्वास का नहीं। यह शील-संयोग अपने केन्द्र पर हो तब घोर प्रतिक्रिया और प्रत्याघात करता है और केन्द्र को दृढ़ बनाता हुआ, शेष से विरक्त होने लगता है। पात्रों में एक (Comolex) भाव-मंडल पैदा हो जाता है। इसी भाव-मंडल की सृष्टि में प्रसादजी करुणा के बीज छिपा देते हैं। पात्र का वाह्य त्रस्त-सा ही रहता है, अन्तर उग्र हो जाता है। पात्र कच्छप की भाँति अन्तर्मुक्त हो रहते हैं। साथ ही वे उस अन्तर्मुक्त के लिये दूसरों में मोह उत्पन्न कर देते हैं। वह अनागति भीतर ही भीतर एक ऊष्मा, एक तड़प बाहर प्रसारित करती रहती है। इन सब कारणों से एक रहस्य का ऊष्न आवरण फैल जाता है। पात्र में एक चमक भी आ जाती है।

इस पात्र-चित्रण का केन्द्र प्रेम ही होता है, प्रेम के सम्बन्ध में लेखक की मान्यता पवित्र और रङ्ग-बिरङ्गी है। उसे यह भी विश्वास है कि प्रेम अपनी ओर आकर्षित करता है, इसीलिए जिसमें प्रेम का केन्द्र वे आरोपित करते हैं उसको दार्शनिक मति से वाह्यतः (Passive) निश्चेष्ट और उदासीन बना डालते हैं। प्रेम के केन्द्र में शक्ति भी बहुत होती है। इसीलिए वह जिन वाह्य अनुष्ठानों में प्रवृत्त भी होता है सफल ही होता है—यह तत्व उसकी ओर से ध्यान को विशृङ्खलित नहीं होने देता और दूसरों की सहानुभूति का पात्र बना देता है। अतः जो आचार अन्यथा पलायन या कायरता कहलाता वह शौर्य के रङ्ग से भर उठता है। उपेक्षा में भी शौर्य होता है, इसे प्रसादजी के पात्र ही स्पष्ट करते हैं। इनसे पात्रों में एक अनोखा सौन्दर्य छलक उठता है।

एक और विशेषता उनके पात्रों में मिलती है जिससे वे सहज ही करुण स्नेह और रहस्य की त्रिवेणी में स्नान कर उठते हैं—वह है उनका एकाकी होना। प्रत्येक पात्र संसार-समाज से अलग एक इकाई की भाँति अपने और अपने भावलोक पर विश्वास करता हुआ आगे पग

बढ़ाता है। उनके कहानियों के पात्र इसलिए करुणा तो उदय करते हैं साथ ही स्नेह का बल उन्हें बहुत भारी होता है—उसी के बल पर वे शून्य-निर्जन किन्तु प्राकृतिक सुषमापूर्ण स्थलों में निर्भीक विचरण करते हुए मिलते हैं। वे बाह्य से अधिक अन्तर से अभिभूत रहते हैं। और उसी अन्तर -अभिभूति में से वे प्रकृति के काव्य को देखते हैं। फलतः कोई कोई रचना उनकी केवल करुण कुतूहल का एक बुदबुद् होकर रह जाती है, और पीछे तो उतना भी नहीं। आगे तो विविध अस्पष्ट भावों का रहस्यमय सागर ही उमड़ता दिखलाई पड़ने लगता है।

प्रसादजी की कहानियों में प्रेम की पीड़ा इतनी प्रबल हो उठी है कि वे कहानियाँ सूरदास के उन्मुक्त संगीत के समकक्ष होगयी हैं। 'प्रेम की पीर' उनमें जायसी से भी अधिक घनीभूत हो उठी है। जायसी ने प्रेम की पीर को प्रकट करने के लिए पद्मावती की सृष्टि की, किन्तु सुजाता, बेनी, नूरी, चम्पा, किन्नरी, पद्मा जैसी अनेकों मांसल रेखाएँ स्वयं प्रेम की पीर हो उठी हैं।

फलतः प्रसादजी की प्रायः प्रत्येक कहानी उनके हृदय-मंथन की एक क्षण की एक निजी कहानी कहती है। रायकृष्णदासजी ने 'इक्कीस कहानियों' की भूमिका में लिखा है—

"प्रसादजी ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से प्रसंगवश एक बात कही थी, जिसका भाव लेकर कहानी की परिभाषा यों बनाई जा सकती है—आख्यायिका में सौन्दर्य की एक झलक का रस है। मान लीजिये कि आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में गोल-मटोल शिशु खेल रहा है, सुन्दरता की मूर्ति। उसकी झलक मिलते न मिलते भर में सवारी आगे निकल जाती है। किन्तु उतनी ही झलक ऐसी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अङ्कित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।" इससे प्रसादजी की परिभाषा तो निश्चय ही हो जाती है।

उनके इस सौन्दर्य-दर्शन ने और करुणा ने कहानियों में उन अछूते लोगों को हमारे समक्ष सुन्दर सुनहले रङ्गों में उपस्थित कर दिया है, जिनकी ओर शिष्ट-समुदाय कभी आँख उठाकर देखना भी स्वीकार नहीं करेगा—कौन कञ्जरों, गुण्डों, दस्युओं, भिखारियों, भिल्लों, वनजारों में चक्कर मारता और उन्हें इस चसक से देखता। प्रसादजी ने इन हेय प्राणियों के अन्तर के जो राग-पूर्ण, उज्ज्वल चित्र अङ्कित किये हैं, उनसे उनकी क्षुद्रतायें विलीन होकर महानताओं में परिणत हो गयी हैं, और शिष्ट-मण्डल की कृत्रिम शिष्ट-रेखायें उन क्षुद्र महानताओं की निस्सीम विशदता से टकराकर चूर-चूर होने लगी हैं। यही तो कलाकार है, जो प्रगतिपथ का निर्देशक बन अनन्त उज्ज्वल भावोदधि के रङ्ग-बिरङ्गे रत्न बिखेर उठता है। प्रसाद की कहानियों में ही यह विशदता मिलेगी कि प्रेम के शतरङ्गी धनुष से पुष्पवाणों की अजस्र वरषा करते हुए भी उसे कहीं विलास-रङ्ग के अंधेरे प्रकोष्ठ में कामुक इंगितों और पूंजी-वैभव के नरक विचारों का खिलौना नहीं बनने दिया। उनके पात्र बुलबुल हैं या कोकिल हैं जो अपने शस्यसुषमामय वनों में संसृति प्रपंच से उड़कर अपनी मनोमय चहक अथवा कूक से कालुष्य और मलिनताओं के तीव्र कोलाहल को उधेड़कर रख देती हैं और अपने तराने की मस्ती में एक दिव्यता भरकर कह उठती हैं, "इसे देख यह है।"

प्रसादजी की आरम्भिक रचनाओं में किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा अपनायी बंगशैली के दर्शन होते हैं, जिससे भावों की रंगीनी के स्थूल विकारों का प्रदर्शन करने के लिए शब्दों की रंगीनी का आश्रय लिया गया है। पर 'आकाश दीप' तक आते आते उनके अंतरस्थ कला के गहरे सागर के हृदय की झलक पूरी तरह उभर आयी और वे कल्पना के हिमधौत लोक में ऊँची से ऊँची चोटी पर उषा रङ्ग में रंगकर जा पहुँचे—हिमालय के पथिक बने, स्वर्ग के खंडहरों में विचरे। वहाँ से करुणा और सौन्दर्य तथा प्रेम की यथार्थ अनुभूति लेकर वे

'इन्द्रजाल' और 'आँधी' की रचना करने बैठे—उनकी दृष्टि शतधा हो गयी, कल्पना की रङ्गीनी यथार्थ में से, जगत के जीवन से, अस्पृश्य क्षेत्रों में से उमड़ने लगी।

जहाँ कहानियों में रहस्य उमड़ता मिलता है, वहाँ तो कहानीकार अद्भुत हैं, पर कहीं-कहीं कहानीकार ने भावों को रूपक की भाषा देकर उपस्थित किया है जैसे 'कला' में। वहाँ वह रूपक से दुर्बल हो उठा है। ऐसे प्रयास के क्षण प्रसाद में या तो आरम्भ में हैं या कहीं-कहीं थकावट की भाँति बीच में हैं, इन्हें उनकी सौन्दर्य-सुषमा के आनन्द या कसौटी ही मानना होगा।



ध्रुवस्वामिनी का ऐतिहासिक पृष्ठाधार

'प्रसाद' का प्रकटीकरण कुछ ऐसे समय में हुआ था, जिस समय विज्ञान की विभीषकाओं के सम्मुख भारतीय वीरता म्लान सी दिखलाई पड़ती थी। परन्तु भारतीय वीरता में जो संस्कृति की झनकार है, उसके समक्ष विज्ञान तुच्छ एवं श्रीहीन है। प्रसाद ने इस बात को ध्यान से देखा और दुनियाँ की आँखों में भारतीय संस्कृति की पुनीत झाँकी दिखलाने का संकल्प कर लिया। यही संस्कृति की ललकार हम प्रसाद के नाटकों की जड़ में देखते है। अतः उनके नाटकों की इमारत इसी सांस्कृतिक आधार पर ही खड़ी होती है। स्वाभावतः संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर वस्तु की दीवारें खड़ी करने के लिये उन्हें प्राचीनता की प्रशस्त भूमि में पदार्पण करना पड़ा और ऐतिहासिक घटनाओं का भी सहारा लेना पड़ा। अतः इस प्रकार प्रसाद ने कठिन तपस्या करके ऐतिहासिक तथ्यों का जीर्णोद्धार किया। इतिहास का जितना उपयोग प्रसाद के नाटकों में मिलता है उतना उत्तम उपयोग अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

'ध्रुवस्वामिनी' में समुद्रगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के बीच के काल का चित्रण एवं दिग्दर्शन है। यह इतिहास में लुप्त प्राय है। विशाखदत्त द्वारा लिखित 'देवी चन्द्रगुप्त' नामक नाटक की एक खंडित प्रति कुछ वर्ष पहले प्राप्त हुई। इससे सम्राट द्वितीय विक्रमादित्य के सम्बन्ध में नई बातें प्रकाश में आईं। 'देवी चन्द्रगुप्त, नाटक के आधार पर हम दो परिणाम निकालने में समर्थ हुए। पहला प्राचीन काल में भारत में भी मोक्ष (Divorce) तथा उसके बाद पुनर्लग्न, अर्थात् स्त्री को दुबारा विवाह करने का अधिकार प्राप्त होता था। इस बात को कुछ लोगों ने कुरुचिपूर्ण माना और इसमें

सन्देह करने लगे। परन्तु इसके एक प्रमाण नहीं तीन प्रमाण मिलते हैं। वे ये हैं—(१) आठवीं शताब्दी के संजात ताम्रपत्र पर ये पंक्तियाँ खुदी हुई हैं:—

'हत्वा भ्रातरमेव राज्य-
महरद्देवीं स दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयन किल,
कलौ दाता स गुप्तान्वयः'

(२) वाणभट्ट की ये पंक्तियाँ जो इसी घटना का उल्लेख करती हैं:—

अरि पुरे च परकलत्र कामुकं कामिनी वेशश्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशासयत्।

(३) इसी प्रकार राजशेखर की दो पंक्तियाँ हैं:—

दत्वारुद्ध गति खसाधिपतये
देवीं ध्रुव स्वामिनीं।
यास्मात् खण्डित साहसो,
निववृते श्रीराम गुप्तो नृपः॥

जब यह घटना ताम्रपत्र पर लिखित है और वाणभट्ट तथा राजशेखर जैसे महाकवियों ने इसका उल्लेख किया है तब हम इसको केवल जनश्रुति कह कर नहीं टाल सकते। कितने लोग रामगुप्त को गुप्तवंश का राजा मानते ही नहीं है पर प्रो० आल्तेकर तथा जायसवालजी ने ऐतिहासिक प्रमाणों से रामगुप्त का गुप्तवंश में होना सिद्ध कर दिया है। भाण्डारकरजी तो 'काच' खुदा हुआ सिक्का रामगुप्त का ही बतलाते हैं—क्यों कि 'राम' शब्द ही घिस कर 'काच' हो जा सकता है। सबसे बड़ा ऐतिहासिक प्रमाण चन्द्रगुप्त के सिक्कों से मिला है जिस पर 'रूपकृती' शब्द लिखा पाया गया है। प्रसादजी का कथन है 'रूपकृती' विरुद्ध का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए

उसने रूप बदल कर किया। परन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न कुछ दिनों तक कुरुचिपूर्ण माना जाता रहा क्योंकि लोग समझते थे भारतीय शास्त्रों से यह विरुद्ध है। बात ऐसी नहीं,— नारद और पराशर के गृह-सूत्रों में भी स्त्रियों का मोक्ष करने का अधिकार दिया गया है। इसका प्रमाण यह है:—

नष्टे मृते प्रव्रजते,
क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्च स्वपत्सु नारीणां,
पतिरन्यो विधीयते॥

इन पाँच आपत्तियों में मृत्यु को छोड़ चार तो स्त्री के काल में ही घटेगी।

अस्तु, इसी ऐतिहासिक घटना को लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की कथावस्तु का विकास हुआ है। नाटक की मूल घटना इस प्रकार है। चन्द्रगुप्त के बड़े भाई समुद्रगुप्त मगध के सम्राट थे। उनकी पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। वह अत्यन्त सुन्दरी थी। शकों ने गुप्त साम्राज्य के ऊपर चढ़ाई की और समुद्रगुप्त को किसी विषम परिस्थिति में डालकर उनसे सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा। उस प्रस्ताव में कई शर्तें थीं; ध्रुवस्वामिनी का देना जिसमें मुख्य था। छोटा भाई चन्द्रगुप्त इस घटना से बहुत क्षुब्ध हुआ और उसने स्वयं 'ध्रुवस्वामिनी' का वेष बनाकर शकराज का उसी प्रकार बध किया जिस प्रकार भीम ने द्रौपदी का वेष बनाकर कीचक का बध किया था। शकराज के मारे जाने पर शायद ध्रुवस्वामिनी का स्नेह चन्द्रगुप्त के ऊपर अधिक हो गया और इसका फल यह हुआ कि दोनों भाइयों में अनबन हो गयी और पारस्परिक कलह में रामगुप्त चन्द्रगुप्त के द्वारा मार डाला गया। इसी कथानक को लेकर 'प्रसादजी' ने इस नाटक की कथा--वस्तु का विकास किया है।

परन्तु इतना होने पर भी उपर्युक्त ऐतिहासिक आधार में संदेह

उत्पन्न करने वाले निम्नलिखित कारण हैं:—(१) देवी चन्द्रगुप्त नाटक कोई ऐतिहासिक नाटक नहीं। (२) कुछ स्मृतियों में जो मोक्ष की चर्चा की गई है वह सभी वर्णों पर लागू है—ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता। (३) समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त नाम का कोई सम्राट था—इस बात का पक्का प्रमाण नहीं। (४) यह बात अत्यन्त असम्भव-सी मालूम होती है कि एक अत्यन्त साधारण शक सरदार महाराज समुद्रगुप्त की पुत्र-वधू को अपनी स्त्री बनाने के लिये मगध के सम्राट से, चाहे वह कितना भी नीच क्यों न हो—माँगने का साहस करे। (५) सबसे आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं चन्द्रगुप्त ही नारी वेष बनाकर शकराज के पास नहीं जाता, वरन् इस आपत्तिजनक परिस्थिति में मगध की सम्राज्ञी को भी डाल देता है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी नाटक की कथा-वस्तु असम्भव-सी प्रतीत होती है।



प्रसादजी की कहानियों का वर्गीकरण

प्रसाद के पाँच कहानी-संग्रह हैं और उनमें सत्तर कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ एक ही प्रकार की नहीं, कई प्रकार की हैं। इनके दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—प्राचीन युग की कहानियाँ अथवा ऐतिहासिक कहानियाँ, और आधुनिक युग की कहानियाँ। स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी के अनुसार भी प्रसाद की कहानियाँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं:—

१—किसी मधुर या मार्मिक रचना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खण्ड-चित्र दिखलाने वाली कहानियाँ, यथा—'आकाश दीप' 'ममता', 'स्वर्ग के खण्डहर में', 'नूरी', 'पुरस्कार', 'सालवती' आदि सभी ऐतिहासिक कहानियाँ इस श्रेणी में आ जायँगी।

२—घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यञ्जना और रमणीय कल्पना के सुन्दर समन्वय के साथ चलने वाली कहानियाँ, यथा 'भीख में', 'चित्र वाले पत्थर', 'बनजारा', 'समुद्रसंतरण' आदि सभी अनैतिहासिक कहानियाँ इसके अन्तर्गत आ जायँगी।

वस्तु की दृष्टि से भी हम प्रसाद की कहानियों को दो स्थूल श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं, यथा (१) प्रेम कहानियाँ तथा (२) दुःख और करुणा की कहानियाँ।

प्रसाद को भारत का अतीत अत्यन्त प्रिय था, इसीसे इसका प्रचुर चित्रण भी उनके साहित्य में मिलता है। उनके नाटकों का अतीत हिन्दू-काल ही तक है, पराधीन भारत में नहीं। उसका प्रारम्भ वैदिक-काल, सत्य हरिश्चन्द्र के समय (करुणालय) से और अन्त जयचन्द की मृत्यु (प्रायश्चित) से होता है। काव्य का अतीत प्रलय से मनु के समय (कामायनी) से प्रारम्भ होता है, और उसका अन्त सिक्ख-युद्ध

के समय, १८५७ ई० के भारतीय-विद्रोह के पूर्व (शेरसिंह का शस्त्र समर्पण) से होता है। उनके उपन्यासों में 'कंकाल' और 'तितली' तो आधुनिक हैं, 'इरावदी' का कथानक शुङ्ग-कालीन है। किन्तु उनकी कहानियाँ अधिक विस्तारमयी हो गई हैं, उनका विस्तार प्रागैतिहासिक पुरुष (चित्र मन्दिर) से लेकर आज तक, असहयोग आन्दोलन (विराम-चित्र) के बाद तक है।

प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियाँ प्रायः बीस हैं। 'चित्र-मन्दिर' प्रागैतिहासिक काल की उस युग की वस्तु है जब कि वृत्तियाँ जग रही थीं।

'पुरस्कार', 'सम्बन्धी', 'व्रत-भङ्ग' और 'आकाश दीप' का सम्बन्ध बौद्ध-काल से है। 'सिकन्दर की शपथ', 'खण्डहर की लिपि', 'अशोक' तथा 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' मौर्य-काल से सम्बन्धित है। 'दासी' और 'स्वर्ग के खण्डहर में' का कथानक मुसलमानों के आक्रमण-काल से लिया गया है। 'देव-रथ' भी उसी युग की कहानी है, उसकी वस्तु बौद्धों के पतन से सम्बन्धित है। 'ममता', 'तानसेन', 'नूरी' और 'गुलाम' मुगल-काल की कहानियाँ हैं। 'चित्तौर-उद्धार' में भी उसी युग की एक राज-पूत कहानी है। 'गुण्डा' और 'शरणागत' का कथानक बृटिश-युग से सम्बन्ध रखता है। 'विराम-चिन्ह' आधुनिक काल की, हरिजन आन्दो-लन की कहानी है।

उनकी सभी अनैतिहासिक कहानियाँ, जो संख्या में लगभग पचास हैं, वर्तमान युग की हैं। किन्तु इन कहानियों पर युग की कोई छाप नहीं है। इनमें दो ही चार कहानियाँ ऐसी हैं जिन पर आज के युग का प्रभाव है, यथा—विराम-चिन्ह' हरिजन आन्दोलन की कहानी है, 'विजया' विधवा-विवाह की कहानी है, 'मीरा' को हम अछूतोद्धार की कहानी कह सकते हैं। उनकी अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जो किसी भी युग किसी देश और किसी भी समाज की कहानियाँ हो सकती हैं

उनमें व्यक्तित्व की प्रधानता है, अतः वह वर्गवाद की नहीं, अपितु व्यक्तिवाद की कहानियाँ हैं। फिर भी इनका वर्गीकरण हो सकता है।

प्रसाद की कुछ कहानियाँ छायात्मक अथवा विशुद्ध काव्यात्मक हैं—जो मानव-समाज से दूर, प्रकृति के एकान्त कोने में घटित होती हैं यथाः—'प्रलय', 'ज्योतिष्मती', 'समुद्र-संतरण' तथा 'रमला' आदि कहानियाँ इस प्रकार की हैं। इसमें एक रूपक सा चलता है। इसमें से 'ज्योतिष्मयी' को तो हम विशुद्ध 'रहस्यवाद' की कहानी कह सकते हैं।

कुछ कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं, यथा—'कला', 'पत्थर की पुकार' आदि। कुछ मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं, यथा—'प्रतिमा', 'अघोरी का मोह' तथा 'परिवर्तन'। कुछ मानवता की कहानियाँ हैं यथा—'सलीम'।

प्रसाद की कुछ क्या अधिकांश कहानियाँ प्रेम के किसी न किसी रूप का दिग्दर्शन कराती हैं। 'विसाती', 'ग्राम-गीत', 'आँधी', 'इन्द्रजाल', 'चन्दा' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। कुछ 'स्वच्छन्दतावाद' 'रोमांस' के रूप की कहानियाँ भी हैं, यथा—'चन्दा' 'रसिया बालम' और 'प्रणय-चिन्ह'। 'मदन-मृणालिनी' बङ्गाली-समाज की कहानी है, 'चन्दा' भीलों की कहानी है, 'आँधी' ईरानियों की कहानी है और 'इन्द्रजाल' कञ्जर-जीवन की कहानी है।

प्रसाद की कुछ कहानियों का विषय दुःख-दरिद्रता और करुणा है। 'मधुआ', 'दुखिया', 'वेड़ी', 'करुणा की विजय', 'छोटा जादूगर', तथा 'नीरा' आदि कहानियाँ इसी कोटि की हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद की किसी कहानी को हम विशुद्ध सामाजिक कहानी नहीं कह सकते। वे प्रायः सभी समाज से दूर, एकान्त में घटित होने वाली हैं, एकान्तिक कहानियाँ हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उद्गम-क्षेत्र विविध हैं, वह सतरङ्ग है, जो इन्द्र-धनुष रूपी प्रसाद की कहानियों का भव्य चित्र है।

प्रसाद की कहानियाँ हिन्दी-कथा-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं, वे विश्व-साहित्य की वस्तु हैं। यदि कला को लीजिये तो प्रसाद हिन्दी के सर्व-श्रेष्ठ कहानीकार हैं, और यदि सर्व-प्रियता, उपयोगिता आदि का विचार किया जाय तो भी हिन्दी के महान कहानी लेखकों में उनको एक उच्च स्थान मिलेगा। कहानी के दो प्रमुख प्रकार होते हैं—सहज और आरोपित अथवा भावात्मक और आलङ्कारिक। इन्हीं को हम दूसरे शब्दों में भाव-प्रधान तथा घटना-प्रधान कह सकते हैं। प्रसादजी पहले प्रकार के कहानी-लेखक थे। उनकी कहानियों में विभिन्न भावों और मनोवेगों का विश्लेषण हुआ है—सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की सफल अभिव्यक्ति उनकी कहानियों में है। उनकी यह अपनी विशेषता थी कि उनकी कहानियाँ हमारे सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को जगाती चलती हैं और ले जाकर ऐसे स्थान पर छोड़ देती हैं कि हम कुछ बे-सुध से हो जाते हैं किन्तु यह बे-सुधी क्षणिक होती है क्योंकि भावों का हृदयङ्गम करने के लिए हमें अन्त में अपने अन्तस को भी सक्रिय बनाना ही पड़ता है। प्रसाद की कुछ अपनी मुख्य विशेषतायें इन कहानियों में हमें मिलती हैं।

प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ प्रायः नब्बे प्रतिशत प्रेम-कहानियाँ हैं। प्रेम तो किसी न किसी रूप में उनकी प्रायः सभी कहानियों का विषय है। उनकी कहानियों में प्रेम के विभिन्न स्वरूपों के चित्र मिलते हैं। किसी में नर-नारी अथवा पुरुष-स्त्री का प्रेम है, तो किसी में देश-प्रेम की भावना है, किसी में पिता के प्रति प्रेम है तो किसी में बच्चों के प्रति स्नेह प्रदर्शित किया है। संक्षेप में इन प्रेम कहानियों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है:—

(१) पुरुष-स्त्री के सफल प्रेम का रूप दिखलाने वाली कहानियाँ, यथा—'दासी', 'पुरस्कार', 'सुनहला साँप', तथा 'इन्द्रजाल' आदि।

(२) पुरुष-स्त्री के प्रेम की असफलता को प्रकट करने वाली कहानियाँ यथा:—'मदन मृणालिनी', 'आँधी', 'ग्रामगीत', 'आकाश-

द्वीप' 'स्वर्ग के खण्डहर में', 'देवदासी', 'बनजारा', 'रूप की छाया', ,चित्र वाले पत्थर', 'गुण्डा', आदि।

(३) दाम्पत्य प्रेम का प्रदर्शन करने वाली कहानियाँ, यथा—'सहयोग', कलावती की शिक्षा' तथा 'सलीम' आदि।

(४) पूर्वानुरागिनी परकीया नायिका के प्रेम की झाँकी देने वाली कहानियाँ यथा—'बिसाती'।

(५) मुग्धा नायिका के प्रेम की झाँकी देने वाली कहानियाँ, यथा—'समुद्र-संतरण'।

(६) हिन्दू-विधवाओं के प्रेम और पुनर्विवाह की ओर संकेत देने वाली कहानियाँ 'विजया'।

(७) इस बात का संकेत करने वाली कहानियाँ कि वेश्यायें भी प्रेम करना जानती हैं औरअवसर मिलने पर वे भी सफल पत्नियाँ बन सकती हैं, यथा—'चूड़ीवाली', 'सालवती'।

(८) निम्नकोटि के प्रेम का रूप समुपस्थित करने वाली कहानियाँ, यथा—'सिकन्दर की शपथ' और 'अशोक'।

(९) कुछ कहानियाँ यह प्रदर्शित करती हैं कि समाज की झोंपड़ियों की अवहेलना करके अभिशप्त कुल के लोग भी निम्न श्रेणी वाली जातियों की कन्याओं से प्रेम क सकते हैं और उनका पाणिग्रहण कर सकते हैं, यथा—'नारी'।

(१०) कुछ कहानियाँ 'स्वच्छन्दतावाद' की हैं, रोमांस के रूप की हैं, यथा—'चन्दा' 'रसिया' 'बालम' और 'प्रणय-चिन्ह' आदि।

(११) आदि नारी और आदि पुरुष का प्रेम-प्रदर्शन करने वाली कहानियाँ—चित्र-मन्दिर।

(१२) कुछ कहानियों में पिता के प्रति सन्तान की अपूर्व श्रद्धा है यथा—'जहाँनारा'।

(१३) कुछ कहानियों में राम रूप बच्चों के प्रति घोर आकर्षण दिखलाया गया है—'गूदड़ साईं" और 'अघोरी का मोह'।

(१४) प्रसाद में देश-प्रेम की भावना अत्यन्त प्रबल थी—उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ उनके देश-प्रेम का ही तो प्रमाण है। किन्तु उनकी कुछ कहानियों में यह भावना अत्यन्त उत्कृष्ट हो गई यथा—'पुरस्कार', 'नूरी' तथा 'गुण्डा'।

प्रसादजी मानवता के अनन्य पुजारी थे और इसकी अभिव्यक्ति भी उनके साहित्य में प्रचुरता से मिलती है। मानवता के किसी न किसी रूप का चित्रण उनकी प्रत्येक कहानी में है, मानव जीवन से बिरल उनकी कोई भी कहानी नहीं।

उदाहरण के लिए निम्नलिखित कहानियों को लीजिए—

सलीम, मधुआ, घीसू, भिखारिन, तथा बेड़ी आदि। जहाँ कहीं भी अवसर मिला है उन्होंने समाज के सड़े-गले अङ्गों के परिष्कार का पूर्ण प्रयत्न भी किया है। समाज की कुरीतियों पर अनेक सुन्दर कटाक्ष उनकी कहानियों में भरे पड़े हैं—"परन्तु यह विधवा थीं—हिन्दू विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है तब उसकी बिडम्बना का कहाँ अन्त था?"—'ममता'। जिस प्रकार अपनी नवीन शैलियों द्वारा प्रसाद ने साहित्य में क्रान्ति की, उसी प्रकार समाज के लिए भी वे क्रान्ति-दूत से थे। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा समाज की रूढ़ियों को तोड़ने तथा आधुनिक भावनाओं के प्रचार की चेष्टा की है। यथा—वेश्यायें भी सफल पत्नियाँ बन सकती हैं, हिन्दू विधवाओं का भी पुनर्विवाह हो सकता है। उनकी ये क्रान्तिकारी भावनायें सर्वथा मानवता की परिपोषिका हैं।

प्रसाद और कुछ हों चाहे न हों पर वे कवि अवश्य हैं। उनका कवि-रूप सर्वत्र व्याप्त है, क्या नाटकों क्या उपन्यासों, और क्या कहानियों में, सभी जगह। उनकी कहानियों में यों तो उनका कवित्व सर्वत्र

व्यापक है, किंतु 'आकाश दीप' कहानी संग्रह में अन्यतम है। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में वह अपरिपक्व है और 'आकाश दीप' में पूर्ण प्रौढ़ हो गया है :—

'उषा के इस शान्त आलोक में किसी मधुर कामना से यह भिखारी दृश्य हँस रहा था। और मानस नन्दिनी! तुम इठलाती हुई वह चली हो। वाहरे तुम्हारा इतराना! इसीलिए तो जब कोई स्नान करके तुम्हारी लहर की तरह तरल और आर्द्र वस्त्र ओढ़कर तुम्हारे पथरीले पुलिन में फिसलता हुआ ऊपर चढ़ने लगता है, तब तुम्हारी लहरों में आँसुओं की झालरें लटकने लगती हैं।'— स्वर्ग के खँडहर से।

कहीं-कहीं इसी कवित्व के कारण कहानी की गति भी कुछ शिथिल पड़ गई है। 'आँधी' संग्रह में भी कवित्व का खुमार है। किन्तु 'इन्द्रजाल' में प्रसादजी मनोवैज्ञानिक हो गये हैं। उस संग्रह की अधि-कांश कहानियाँ केवल कवित्व ही प्रधान नहीं, उनमें संसार के सर्व श्रेष्ठ कहानी-लेखकों का सा रूप है, कवि वहाँ आलोचक हो गया है। 'छोटा जादूगर', 'परिवर्त्तन', 'सन्देह', 'भीख में' तथा 'विराम-चिन्ह' आदि कहानियाँ ऐसी ही हैं। इनकी भाषा भी कुछ हलकी हुई है और उनमें प्रसाद की कहानियों का नया रूप निखर गया है। उनकी भाषा का रूप देखिये—

'देव मन्दिर के सिंह द्वार से कुछ हट कर वह छोटी सी दूकान थी। सुपारी के घने कुञ्ज के नीचे एक मैले कपड़े के टुकड़े पर लुली हुई धार में तीन-चार केले, चार कच्चे पपीते, दो हरे नारियल और छः अण्डे थे।'— विराम चिन्ह।

अन्यत्र उनकी भाषा का यह रूप है—

'सन्ध्या आ गई। नक्षत्र ऊँचे आकाश-गिरि पर चढ़ने लगे। इस दृश्य जगत के उस आलिङ्गन के लिए उठी हुई बाहें गिर गईं।

पार से, विश्व के गम्भीर अन्तस्तल से एक करुण और मधुर अन्तर्नाद गूँज उठा।'

—चित्र-मन्दिर।

प्रसादजी प्राकृतिक-दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। उनकी कुछ कहानियों का प्रारम्भ, विकास तथा अन्त आदि सभी कुछ पूर्ण रूप से प्रकृति की गोद में ही होता है, यथा—'हिमालय का पथिक', 'चित्र-मन्दिर' तथा 'चत्र वाले पत्थर' आदि। वन्य-प्रकृति की ओर उनका प्रेम उमड़ा है। यह प्रकृति-चित्रण सर्वथा रस से सराबोर है—

'वनस्थली के रङ्गीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठीं, देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पंखुरियाँ, वसन्ती-पवन के परों के समान हिल रहीं थीं। पीले पराग का अङ्गराग लगने से किरणें पीली पड़ गईं। बसन्त का प्रभात था।'

—अपराधी।

प्रसादजी रूप और यौवन के अद्वितीय चित्रकार थे। उनका स्वयं का प्रारम्भिक जीवन विलास में बीता था, इसी से उनके साहित्य में रूप, यौवन और विलास का रङ्ग अत्यन्त गाढ़ा है। उनके प्रायः सभी पात्र युवा भावुक और आकर्षक हैं। इसीसे उनकी अधिकांश कहानियों का विषय प्रेम है और रूप तथा यौवन की झाँकी तो उनकी प्रायः सभी कहानियों में है। प्रेम कहानियों में तो इसकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती ही है, किन्तु उनकी कुछ दुःख और करुणा की कहानियों में भी रूप और यौवन का चित्र है जैसे—'घीसू' में बिन्दो—'उसकी उजली धोती में गोराई फूटी पड़ती।'

मार्च २७ की 'माधुरी' के कहानी अङ्क में एक लेख लिखा है—'हिन्दी के तीन कवि कहानी-लेखक'। इसमें प्रसाद प्रमुख हैं। उनके विषय में कुछ विशेष बातें लेख में बतलाई गई हैं। लेखक को जो कुछ कहना था, उसने 'आँधी' के आधार पर कहा है। किन्तु जो कुछ 'आँधी' के लेखक प्रसाद पर कहा गया है वह

'आकाश-दीप' और 'इन्द्रजाल' के प्रसाद पर भी समान रूप से लागू होता है। लेखक ने बतलाया है कि प्रसाद की नायिकाएँ युवती हैं, सुन्दर हैं, और मृदुभाषिणी हैं। मैंने 'छाया' से लेकर 'इन्द्रजाल' तक निरीक्षण किया—वहाँ कोई बुढ़िया नहीं। 'छाया' में मृणालिनी का रूप देखिये—

'मृणालिनी स्वामी की कन्या है। वह देव-बाला सी जान पड़ती है। बड़ी-बड़ी आँखें, उज्ज्वल कपोल, मनोहर अङ्ग-भङ्गी, गुल्फ विलम्बित केश-कलाप उसे और भी सुन्दरी बनाने में सहायता दे रहे हैं। अवस्था तेरह वर्ष की है, किन्तु वह बहुत गम्भीर है।'

—मदन-मृणालिनी।

अब 'इन्द्रजाल' की बेला का रूप देखिये—

'बेला' साँवली थी। जैसे पावस की मेघ-माला में छिपे हुए आलोक-पिंड का प्रकाश निरखने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बात करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती।

—इन्द्रजाल।

रूप, यौवन और विलास की एक झाँकी और लीजिए—

'नूरी' काश्मीर की कली थी। सीकरी के महलों में उसके कोमल चरणों की नृत्य-कला प्रसिद्ध था। उस कलिका का आमोद मकरन्द अपनी सीमा में मचल रहा था। उसने समझा, मेरा कोई साहसी प्रेमी है, जो महाबली अकबर की आँख-मिचौनी क्रीड़ा के समय पतङ्ग सा प्राण देने आया है। 'नूरी' ने इस कल्पना के सुख में अपने को धन्य समझा और चुप रहने का संकेत पाकर युवक के मधुर अधरों पर अपने अधर रख दिये। युवक भी आत्म-विस्मृत सा उस सुख में पल भर के लिए तल्लीन हो गया।'

—नूरी।

किन्तु प्रसादजी केवल यौवन, प्रेम तथा विलास के रङ्ग में ही नहीं डूबे थे, बल्कि उन्हें अपने समाज का पूर्ण ज्ञान था। समाज के विपन्न और दुःखी अङ्ग को भी उन्होंने देखा था और उससे उन्हें पूर्ण सहानुभूति भी थी। उनकी कुछ कहानियों में समाज के उस अङ्ग का चित्रण हैं। इन दुख-दर्द की कहानियों का विषय है करुणा, और वास्तव में मानवता तथा करुणा की विजय ही तो उनके समूचे साहित्य का मूल-मन्त्र है। वास्तव में उनका स्वयं का जीवन भी अन्तिम-काल में कुछ दुखमय हो गया था—अतः दुःख और वेदना का भी चित्रण उनकी कहानियों में है:—

'मोटर निकल गई और वह बुड्ढा विकल हो रोने लगा—अन्धा किधर जाय! एक ने कहा—'चोट अधिक नहीं।' दूसरे ने कहा—'हत्यारे ने वेड़ी पहना दी है, नहीं तो क्यों चोट खाता?' बुड्ढे ने कहा—'काट दो वेड़ी, बाबा, मुझे न चाहिए।' और मैंने हत बुद्धि होकर देखा कि बालक के प्राण-पखेरू अपनी वेड़ी काट चुके थे'।—वेड़ी।

प्रसादजी कभी-कभी कहानियों के बीच में दार्शनिक बन जाते थे:—'लहरें क्यों उठती हैं और विलीन होती हैं, बुद-बुद और जल-राशि का क्या सम्बन्ध है? मानव जीवन बुद-बुद है या तरङ्ग?'

—अघोरी का मोह।

तथा—"मैं समझता हूँ मनुष्य कोई सुनिश्चित वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता, कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकता।' —सालवती।

उनकी कहानियों में मनोविज्ञान के छींटे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं:—'चन्द्रदेव ने आश्चर्य से देखा कि मालती दुर्बल है—किन्तु रोग के लक्षण नहीं रहे। उसके अङ्ग-अङ्ग पर स्वाभाविक रङ्ग प्रसन्नता बनकर खेल रहा था।'

—परिवर्त्तन।

प्रसाद प्रायः कहानियों के बीच-बीच में सुन्दर सूक्तियाँ भी रखते चलते थे। उनकी अधिकाँश कहानियों में सुन्दर सूक्तियाँ है:—

'मनुष्य की चिता जल जाती है, और बुझ भी जाती है, परन्तु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला, संभव है उसके बाद भी धक-धक करती हुई जला करे।' —प्रतिध्वनि।

काशी का नागरिक-जीवन प्रसाद को अति प्रिय था। इसका चित्रण भी उन्होंने कई कहानियों में किया है। 'प्रथा', 'दासी', 'रूप की छाया', 'बेड़ी', 'बीसू', तथा 'गुण्डा' आदि। उनका यह प्रेम 'गुण्डा' के केवल अंतिम एक वाक्य से ही व्यक्त हो उठता है—'वह काशी का गुण्डा था।'

प्रसाद को सुनहली धूप, चाँदनी रात, बजड़े पर विहार करना, विशेषतः रात्रि में, तथा संतरण आदि बातें अति प्रिय थीं। कहानियों में स्थान-स्थान पर इनका वर्णन है :—

'जङ्गले से धूप आकर उसके छोटे से शीशे पर तड़प रही थी। अपना उज्ज्वल आलोक—खण्ड वह छोटा सा दर्पण बुद्ध की सुन्दर प्रतिमा को अर्पण कर रहा था। किन्तु प्रतिमा ध्यान-मग्न थी, उसकी आँखें धूप से चौंधियाती न थीं। —सन्देह

'चैत्र की मतवाली चाँदनी परिमल से लदी थी। उसके वैभव की यह उदारता थी कि उसकी कुछ किरणों को जङ्गल के किनारे की फूस की झोंपड़ी पर भी बिखरना पड़ता'। —सालवती।

'बजरे पर चाँदनी बिछी थी' —सन्देह।

'समुद्र-संतरण' तो बजरे की कहानी ही है। 'आँधी' का श्रीनाथ प्रायः उस छोटी सी झील में रात्रि में डोंगी चलाया करता था। 'अमित स्मृति' रखने वाले बाबूजी तो होली के दो दिन तक बजरे पर से उतरते ही न थे।

'आँधी' की लैला को सन्तरण में इतना आकर्षण था कि शीत-काल की रात्रि में भी वह सोल्लास सन्तरण करती थी। यह सन्तरण-प्रेम 'समुद्र-सन्तरण' में भी देखा जा सकता है।

कहानियों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रसादजी ग्राम गीतों के बड़े प्रेमी थे। 'ग्राम-गीत' नामक कहानी इसका प्रमाण है। प्रसाद जानते थे कि 'बर जोरी' 'बसे हो नयनवाँ में', में कितना कवित्व है। उनकी कई अन्य कहानियों में भी गीतों की एक-एक टुकड़ियाँ बिखरी पड़ी हैं।

उनकी कहानियों में अनेक गद्य-गीत भी आये हैं। 'स्वर्ग के खँडहर में' के दो, 'सलीम' में एक, 'दासी' में एक, 'नूरी' में एक, 'बनजारा' में एक, तथा 'पत्थर की पुकार' में एक गद्य-गीत है। इस प्रकार सात गद्य-गीत हैं, जो विशुद्ध गद्य काव्य की श्रेणी में आयेंगे।

बौद्ध-धर्म का प्रभाव जो प्रसाद पर पड़ा था उसका भी कुछ आभास उनकी इन कहानियों में मिलता है। उनकी कई कहानियाँ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। 'आँधी' कहानी में यह विचार-धारा सिंहाली भिक्षु द्वारा स्पष्ट है। वे सर्वत्र अपने अनुकूल वातावरण बनाने में सक्षम थे। 'सन्देह' में भी इसका स्पष्ट आभास है। किन्तु उन्होंने सनातन वैदिक धर्म के आगे उसकी महानता कभी न स्वीकार की। उनकी कहानियों में बौद्ध-धर्म का पतन ही मिलता है—उत्थान नहीं। देव-रथ में तो उन्होंने पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है कि पवित्र हिन्दू गार्हस्थ धर्म का विनाश करके कोई भी धर्म पनप नहीं सकता।

प्रसाद-साहित्य से परिचित होने के लिए सबसे पहले हमें उनकी कहानियाँ पढ़नी चाहिए। उनके साहित्य की सभी धारायें यहाँ हैं, अतः पहले उनसे परिचय कर लेना चाहिए। प्रसाद की करुणा और आनन्द दोनों की धारायें यहाँ हैं। 'मधुआ', 'करुणा की विजय', 'दुखिया', 'घीसू', 'वेड़ी' आदि करुणा की कहानियाँ हैं। करुणा तो प्रायः उनकी सभी कहानियों का अंग है। 'आँधी' और 'अपराधी' आदि में हमें एक दर्द, एक टीस और कसक मिलती है। 'मधुआ' की दयनीय दरिद्रता एक शराबी को भी सुधार देती है—किन्तु इस करुणा में आनन्द है। 'व्रत-भङ्ग', 'पुरस्कार', 'देव-रथ' तथा 'सालवती' आदि 'अजात-शत्रु',

'स्कन्दगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' आदि के अध्ययन का मार्ग बतलाती हैं।

अन्त में प्रो० आचार्यजी के शब्दों में कहना चाहूँगा कि प्रसाद की कोई भी कहानी नीरस नहीं, जिसे स्व० आचार्य शुक्लजी कल्पना-प्रधान मानते थे उसे हम रस-प्रधान कहेंगे। उनकी कुछ कहानियाँ भारतीय इतिहास की अमर कृतियाँ हैं। प्रसाद की बाद की ऐतिहासिक कहानियाँ इसी कोटि में आवेंगी यथा—'स्वर्ग के खण्डहर में', 'आकाश-दीप' 'दासी', 'पुरस्कार', 'नूरी', 'चित्र वाले पत्थर', 'चित्र मन्दिर' 'गुण्डा' तथा 'सालवती' आदि। किन्तु किसी साधारण पाठक को उनकी इन ऐतिहासिक कहानियों में वह रस-आनन्द न मिल सकेगा जो उसे उनका अनैतिहासिक कहानियों में मिलेगा। उनकी अनेक कहानियाँ निस्संकोच भाव से विश्व-साहित्य के समक्ष रखी जा सकती हैं। 'आँधी', 'मधुआ', 'घीसू', 'बेड़ी', 'नीरा', 'समुद्र-संतरण', 'विसाती', 'इन्द्र-जाल', 'सलीम', 'छोटा जादूगर', 'भीख में', तथा 'विराम-चिह्न' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

प्रसादजी के काव्य सम्बन्धी विचार

स्वर्गीय जयशङ्करप्रसादजी कवि तो थे ही किन्तु वे गम्भीर विचारक भी थे। उनके कवि-रूप से बहुत से लोग परिचित हैं, उनके आचार्यत्व का लोगों को विश्वासमात्र है लेकिन वे यह नहीं जानते कि उनके विचार क्या थे। काव्य, कला और नाटक के सम्बन्ध में प्रसादजी के कुछ मौलिक विचार थे जिनका कि विकास भारतीय परम्परा के अनुकूल हुआ था। ये विचार काव्य और कला नाम की पुस्तक में संग्रहीत हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में श्री नन्ददुलारे वाजपेयीजी की भूमिका है। इसमें ग्रन्थ का सार आ गया है।

काव्य की परिभाषा बहुत प्राचीन काल से समीक्षकों और आचार्यों के लिए युद्ध स्थली बनी रही है। इसी परिभाषा के आधार पर बहुत से सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। प्रसादजी की व्याख्या यद्यपि रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानी जायगी तथापि वह मामूली व्याख्या से बहुत भिन्न और विलक्षण है। देखिए—

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है" अब संकल्पात्मक अनुभूति को जरा समझ लेना चाहिए। प्रसादजी इनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व रूप में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।"

उपर्युक्त परिभाषा, काव्य और शास्त्र सम्बन्धी विद्या के दो विभागों पर अवलम्बित है। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' काव्य और शास्त्र दो पृथक् चीज हैं। शास्त्र से मतलब है विज्ञान

का। यह विभाग भी मन की संकल्प और विकल्प नाम की दो वृत्तियों पर आश्रित है। संकल्प संश्लेषण (Synthesis) रहता है और विकल्प में विश्लेषण (Analysis)। संकल्प का सम्बन्ध काव्य से है और विकल्प का सम्बन्ध विज्ञान वा शास्त्र से है। संकल्प एकता और आनन्द का उपासक है, विकल्प नानात्व और दुःख का। विज्ञान में संकल्पात्मकता है अवश्य, किन्तु उसमें विश्लेषण का प्राधान्य है। विज्ञान के विश्लेषण द्वारा उसमें चारुत्व की कमी हो जाती है। इस सम्बन्ध में प्रसादजी कहते हैं—"विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और उसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेम की कमो हो जाती है।" कवि-कल्पना-मण्डित सुहाग भरी जुही की कली विश्लेषण करने पर कार्बन और हाईड्रोजन का मिश्रण रह जाती है, अथवा पुष्पों के वर्गीकरण में उसको एक बारह-चौदह अक्षरों वाला लम्बा नाम मिल जाता है।

काव्य में श्रेय और प्रेय का मेल हो जाता है। श्रेय सत्याश्रित है। इस तरह सत्यम् श्रेयस (शिवम्) और प्रेयस सुन्दरम् का समन्वय हो जाता है। शिवम् और सुन्दरम् के लिए भारतीय परिभाषा में श्रेयस और प्रेयस ठीक बैठते हैं। इस परिभाषा में अनुभूति पर ज्यादा जोर दिया जाता है, अभिव्यञ्जना पर कम। वास्तव में जहाँ अनुभूति ठीक और निश्चित होती है वहाँ अभिव्यञ्जना भी ठीक उतरती है। सूर और तुलसी की वात्सल्य भावना सम्बन्धी अभिव्यञ्जना में अन्तर है। इसका कारण अनुभूति भेद ही है। सूर बालकृष्ण के उपासक थे और तुलसी धनुर्धारी किशोर राम के।

प्रसादजी काव्य को कला नहीं मानते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से काव्य विद्या है और कला उपविद्या है। समस्यापूर्ति कला है क्योंकि उसका छन्द-शास्त्र से सम्बन्ध है, काव्य कला नहीं है। कला विभाजन

जो मूर्त और अमूर्त के आधार पर किया जाता है उससे प्रसादजी सहमत नहीं हैं। भारतीय विचार धारा में मूर्त-अमूर्त का भेद नहीं है। यह भेद ईसाई-संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। हमारे यहाँ मूर्त और अमूर्त दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वैसे भी सङ्गीत को अमूर्त कहना ठीक नहीं क्योंकि उसका यदि चाक्षुस प्रत्यक्ष नहीं होता तो श्रवणेन्द्रिय सम्बन्धी प्रत्यक्ष होता है। काव्य में भी शब्दों की अमूर्तता आजाती है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी के साहित्यालोचन में जो कलाओं की श्रेणी बाँधी गयी है वह हेगिल की विचारधारा के अनुकूल है। भारतीय पद्धति में हेगिल की मूर्त आधार वाली कलाओं को शिल्प कहा है, वे तीन हैं—स्थपतिः (Architectur) मूर्ति-कला और चित्र-कला। यह दृष्टिकोण और परिभाषा का भेद है। भारतवर्ष में कलाओं को आश्रित रक्खा है। 'नृत्य-गीत प्रभृतयः कला कामार्थसंश्रयः।' यहाँ पर काम का व्यापक अर्थ इच्छा, जिसका सम्बन्ध भावात्मक जगत से है, लेना चाहिए। वे कलाएँ ६४ हैं। इनमें नृत्य-गीत, वाद्य, तैरना, फूल-माला बनाना इत्यादि बातें आती हैं, जिनके कारण पुरुष विदग्ध (Cultured) कहा जा सकता है। मेरी समझ में भारतवर्ष में जो कलाएँ मानी गयी हैं उनके लिए अँगरेजी शब्द Accomplishment अधिक उपयुक्त है। प्रसादजी ने शिवसूत्र विमर्शिनी से जो कला की परिभाषा दी है वह हेगिल के विचारों से कुछ मिलता-जुलता है। 'कलयति स्वरूपं आवेशयति, वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला' अर्थात् कला वह है जो वस्तुओं में या स्वयं प्रमाता में स्वरूप को, आत्मा को परमित रूप में प्रकट करती है।

प्रसादजी कला की इस परिभाषा का यदि कुछ और स्पष्टीकरण कर देते तो हिन्दी भाषा भाषियों का अधिक उपकार होता क्योंकि हम लोगों को प्राचीन शास्त्रों के ज्ञान के अभाव में अँगरेजी ग्रन्थों का आधार लेना पड़ता है और कहीं कहीं वह भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं रहता।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसादजी यह नहीं मानते कि इसकी उत्पत्ति सेमेटिक अर्थात् मुसलमानी यहूदी प्रभाव से हुई। इस सम्बन्ध में उनका शुक्लजी से स्पष्ट मतभेद है। प्रसादजी कहते हैं कि यहूदियों ने प्रभु ईसा मसीह को इसी लिए सूली पर चढ़ाया था कि वे अपने को और अपने पिता को एक मानते थे, 'I and my Father are one' अनलहक कहने वाले मंसूर भी उसी पथ के गामी हुए। सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा, मन्सूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म भावना से अधिक परिचित थे। स्वयं सूफी सम्प्रदाय हिन्दुस्तान से प्रभावित है। प्रसादजी कहते हैं 'सूफी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचार-धारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी' यह इतिहास का विषय है। इस सम्बन्ध में मैं अधिक नहीं जानता। मुसलमान लोग इसकी उत्पत्ति अरब से ही मानते हैं। किन्तु यह बात तो मानी हुई है कि मुसलमान लोग भारतवर्ष में आठवीं शताब्दी में ही आने-जाने लगे थे। यह एक दूर की सम्भावना हो सकती है कि कबीर आदि सन्तों ने भारतीय एकात्मवाद को उसी तरह अपनाया हो जिस तरह आजकल शोपनहोर या इमर्सन को पढ़कर लोग वेदान्त को अपनाते हैं। इस तरह से कबीर के रहस्य को मुसलमानी प्रभाव से उत्पन्न कह लें किन्तु एकात्मवाद की भावना मूल में भारतीय है।

प्रसादजी ने यह भी बतलाया है कि शैव आगमों से अद्वैत रहस्य को द्वैत से अभिभूत हो जाने की शंका दिखलायी गयी है। इसमें रहस्य-सम्प्रदाय की प्राचीनता झलकती है। जो लोग रहस्यवाद को नवीन शब्द मानते हैं उनके लिए यह विकारोत्तेजक होगा। "द्वैत दर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्य सम्प्रदायो मा विच्छेदि।" प्रसादजी इस सम्बन्ध में यह भी बतलाते हैं कि प्रेम की उपासना न सूफी सम्प्रदाय से हमको मिलती है और न ईसाई धर्म से। वैदिक-काल प्रेम का प्राचीन रूप है। "कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो

रेतःप्रथमं यदासीत्" काम प्रेम से अधिक व्यापक है। प्रसादजी का कथन है कि जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया है, तभी से काम शब्द की महत्ता कम हो गयी है।

प्रसादजी रहस्यवाद की भारतीयता प्रमाणित करते हुए आनन्द और अद्वयता उसकी मूल प्रवृति मानते हैं। द्वैतवाद का सम्बन्ध बुद्धिवाद से है। वर्तमान रहस्यवाद को भारतीय परम्परा का उत्तराधिकारी बतलाते हुए प्रसादजी कहते हैं कि इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं वा इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। प्रसादजी आनन्दवादी होने के कारण मिलन को अधिक महत्व देते हैं। विरह को बुद्धिवाद का प्रभाव बतलाते है। गोपियों के विरह में आनन्दवाद और बुद्धिवाद का समन्वय है। प्रसादजी के आनन्द, समरसता अहं को इदम् से समन्वय जो कि प्राकृतिक सौन्दर्यास्वादन होता है रहस्यवाद के मूल तत्व हैं।

प्रसादजी रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा मानते हैं। 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।'

पुस्तक में रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रङ्गमञ्च, प्रारम्भिक पाठ्य (श्रव्य) काव्य, यथार्थवाद और छायावाद शीर्षक और भी कई पाण्डित्यपूर्ण लेख हैं। हम उन लेखों में आये हुए सिद्धान्तों का क्रम-बद्ध विवेचन न करके स्फुट रूप से उनकी बातों का उल्लेख कर रहे हैं—

१—प्रसादजी ने रस सम्प्रदाय को ही सङ्कल्पात्मक अनुभूति के अन्तर्गत रक्खा है। रीति अलङ्कारवादियों को विकल्प और बुद्धिवाद से सम्बन्धित किया है। प्रसादजी ने नाटकों में ही रस का परिपाक अधिक

माना है। महाकाव्यों में दुःखवाद और बुद्धिवाद* का अधिक प्रभाव है। रामायण और महाभारत दोनों में दुःखवाद है किन्तु रामायण को उन्होंने आदर्शवादी कहा है और महाभारत को यथार्थवादी; क्योंकि उसमें व्यक्तिवैचित्र्य के लिये अधिक स्थान दिखाई देता है।

२—नाटकों की उत्पत्ति प्रसादजी ने वेदों से ही मानी है। सोम-विक्रय आदि के अभिनय पहले होते थे, उनमें आनन्दवादी माहेश्वरों के प्रभाव से वृत्त और नृत्य का समावेश हो गया। यूरोप के कुछ विद्वान् सूत्रधार शब्द के आधार पर नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के नाच से मानते हैं। प्रसादजी के मत से यह ठीक नहीं है। सूत्रधार का अर्थ लाक्षणिक लेना चाहिए और यदि अभिधार्थ ही लेना है तो भी कठपुतलियों के सूत्र की कल्पना करना अनावश्यक है। सम्भव है सूत्रधार के हाथ में पट-जवनिका आदि के सूत्र रहते हों।

जवनिका (यवनिका) के आधार पर कुछ यूरोपीय विद्वान् भारतीय नाटकों की उत्पत्ति यूनान से मानते हैं। प्रसादजी की राय में यह ठीक नहीं है। उन्होंने अमरकोष और हलायुध से उद्धरण देकर बतलाया है कि जवनिका शुद्धरूप में 'ज' से लिखा जाता है। यही उसका शुद्ध रूप था। 'य' का 'ज' नहीं हुआ। जव का अर्थ वेग या तुरा से है। जवनिका का अर्थ हो जाता है जो जल्दी से उठायी या हटायी जा सके।

३—प्रसादजी नाटकों की भाषा को पात्रों के अनुकूल उर्दूमय या गँवारू बनाने के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने अपने नाटकों में ऐसा किया भी नहीं है।

४—हिन्दी रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में प्रसादजी का कथन है कि उपर्युक्त

* प्रसादजी ने आर्यों के विचार की दो धाराएँ मानी हैं। एक आनन्दवाद की ओर दूसरी तर्कवाद की, जो दुःखवाद की ओर ले जाती है। पिछली शाखा के मानने वाले जैन और बौद्ध थे।

स्त्री अभिनेत्रियों का न मिलना इसके विकास में बाधक रहा फिर सिनेमा ने आघात पहुँचाया। वे रङ्गमञ्च के सुधार के पक्ष में हैं। रङ्गमञ्च के सुधार में वे पदस्खलित होने वाली जल्दी नहीं चाहते 'प्रगतिशील विश्व है' किन्तु अधिक उछलने में पद-स्खलन का भी भय है।

५—प्रसादजी वर्तमान युग की प्रवृत्तियों में यथार्थवाद और छायावाद की मुख्यता बतलाते हैं। यथार्थवाद के सम्बन्ध में वे कहते हैं 'यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उससे स्वभावतः दुःख की प्रधानता और अनुभूति आवश्यक है। आदर्शवाद साहित्यिक न्याय (Poetic justice) पर अवलम्बित है। उसमें भले का भला परिणाम और बुरे को बुरा दिखाया जाता है। यथार्थवाद हमको इतिहास की ओर ले जाता है और आदर्शवाद धर्म की ओर। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत् और आनन्द स्वर्ग का पूर्ण एकीकरण साहित्य है।"

६—छायावाद के सम्बन्ध में प्रसादजी लिखते हैं—'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर सहानुभूति की गयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया……सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। वक्रोक्तिवाद भी शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता द्वारा शोभा की सृष्टि मानता है। छायावाद में भी वाग्वैचित्र्य की विदग्धता

रहती है। प्रसादजी के मत से छायावाद के लिए प्राकृतिक वर्णन आवश्यक नहीं। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की महिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय, प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तथ्य उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया'। इस प्रकार छायावाद में आन्तरिक के अनुकूल व्यञ्जनापूर्ण भाषा लाने का प्रयत्न हुआ। प्रसादजी ने बतलाया है कि प्राचीन ग्रन्थों में छाया जैसे मोती, छाया, सौन्दर्य के अर्थ में प्रयुक्त है। यह विलक्षण संयोग है कि जो नाम मजाक उड़ाने के लिए दिया गया था उसकी साहित्य में सार्थकता निकल आयी। यही पंडितों का पांडित्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का पूरा-पूरा लाभ उसके अध्ययन से ही मिलेगा। यहाँ तो प्रसादजी के विचारों का दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। यह पुस्तक समीक्षा-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

प्रसाद की विचारधारा

प्रत्येक कवि में एक विशेष मादकता रहती है जो कि उसके हृदय के मधु से उत्पन्न होती है। उसके हृदय की हाला उफन-उफन कर काव्य-धारा में प्रवाहित होने लगती है और पहले वह उसे मस्त कर दूसरों में मादकता उत्पन्न करती है। प्रसादजी में भी एक मादकता है किन्तु उनकी मादकता में एक गति-विधि है, उनके हृदय की हाला का उफान उन्मत्त का-सा प्रलाप नहीं है। वह अकाण्ड ताण्डव नहीं है। उसमें गति और लय है। वे कवि हैं, उनमें कल्पना है और भाव हैं किन्तु भावना के साथ विचार भी हैं। उनके काव्य में कामायनी की कथावस्तु की भाँति मन का कामायनी अर्थात् भावना के साथ परिणय तो है ही किन्तु उससे सारस्वत प्रदेश वासिनी इला (बुद्धि) का भी सहयोग है। वह श्रद्धाहीन सहयोग नहीं है जिससे कि विनाश और संसार की क्षति होती है वरन् ज्ञान, कर्म और इच्छा से समन्वित हिमाञ्चल की उच्च भूमि में वास करने वाले श्रद्धासंयुक्त मन की सेवा करने वाली कल्याणमयी बुद्धि का सहयोग है जिससे कि शाश्वत आनन्द की उत्पत्ति होती है। विचारहीन भावना अन्धी है और भावनाहीन विचार पंगु रह जाते हैं। कवि की अमर वाणी में भाव और विचारों का समन्वय होता है। प्रसादजी भी उन्हीं सिद्ध-हस्त कवियों में हैं जिनकी भावना सारहीन झागों में नहीं उड़ जाती वरन् उससे विचार की सरस धारा भी बहती है।

कवि की विचार-धारा और दार्शनिक की विचार-धारा में इतना अन्तर है कि वह भाव-शून्य नहीं होती, उसके उपदेश भी शुष्क और नीरस नहीं होते वरन् कान्ता के-से हित और मनोहरता युक्त होते हैं।

हम उनके काव्य में रत्नों को पा सकते हैं किन्तु उनमें दार्शनिक के युक्तिवाद की कुदाली के अङ्क नहीं दिखलाई पड़ते हैं। जिन लोगों का तोष युक्तिवाद रूपिणी कुदाली के आघातों बिना नहीं होता उनको कवि की वाणी में अधिक सार न दिखलाई पड़ेगा किन्तु सरस हृदय में उनकी वाणी अपना चमत्कार दिखलाए बिना न रहेगी। मैं इतनी बात और कह देना चाहता हूँ कि कवि दार्शनिक वा उपदेशक की भाँति अपने विषय का प्रतिपादन नहीं करता है। उसके भाव उसकी वाणी में स्वयं ही अभिव्यञ्जित हो जाते हैं। वास्तव में यदि हम कुछ सार पाना चाहते हैं तो उसकी पंक्तियों की ध्वनि में ही मिल सकता है। कभी-कभी तो कवि अपने आप कुछ नहीं कहते हैं वरन् उनके रचे हुए नाटकों या कथा-काव्यों के पात्र ही उनके भावों की व्यञ्जना करते हैं और बहुत-सी जगह तो यह भी पता नहीं चलता कि कवि किन भावों को अपनाता है और किन भावों को जनता के वकील की हैसियत से कहता है। तो भी उसके विषय के चुनाव तथा नाटक के अन्त से उसके विचारों का कुछ पता चल जाता है।

सबसे पहले हम प्रसादजी के दार्शनिक विचारों को लेंगे। प्रसादजी के काव्य-ग्रन्थों के सम्बन्ध में मेरा अध्ययन न विस्तृत ही है और न बहुत गम्भीर। कवि दर्शन-शास्त्र के अन्तिम तत्वों की ओर जा भी नहीं सकता। उसका सम्बन्ध जावन से है और हम उसके दार्शनिक विचारों को भी जीवन के सम्बन्ध में ही देख सकते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसादजी अधिक नहीं कहते हैं। मनु भी अपने को एक जलमयी सृष्टि में पाता है। इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है तो यही कि वे उसे मनोमय ही मानते हैं और वे प्रत्ययवाद (Idealism) की ओर अधिक झुके हुए हैं। नीचे की पंक्तियों में इस बात का कुछ आभास-सा मिलता है—

नव मुकुर नील मणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका! चिर चंचल

यह विश्व बना है परछाईं ।

इसके अतिरिक्त उनके प्रकृति के वर्णनों में मानव-भाव ओत-प्रोत मिलते हैं ।

हिम-शैल बालिका कलरव संगीत सुनाती अतीत युग की गाथा गाती हुई सागर से मिलने जाती है और अनन्त मिलन के उपलक्ष में फेनिल खील बिखराती है । चन्द्र, सूर्य और ऊषा सब प्रेम की पुकार करते हैं । ऊषा नागरी अम्बर पनघट में ताराघट डुबोती है और लतिका मधु मुकुल नवल रस भर लाती है ।

उनके प्रियतम भी उनसे प्रकृति-द्वारा ही आँखमिचौनी का खेल खेलते हैं, देखिए—

निज अलकों के अन्धकार में
तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ठहरो,
यह न कभी बन पाओगे ?
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा-सी वह उधर बही ।
वसुधा चरण-चिह्न-सो बन कर
यहीं पड़ी रह जावेगी ।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे
अपना भाल सजावेगी ।
देख न लूँ इतनी ही तो इच्छा !
लो सिर झुका हुआ ।
कोमल किरन-उँगलियों से
ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ ।

भगवान् के अस्तित्व को मानते हुए वे इस बात की विवेचना नहीं

करना चाहते हैं कि वे कैसे हैं किन्तु उनसे वे चिर-मिलन चाहते हैं। कबीर या दादू का नमक की पुतली का समुद्र में व्यक्तित्व खो देने वाला मिलन नहीं वरन् जलधि और क्षितिज का-सा देखिए—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

प्रसादजी प्राचीनता के उपासक और भारतीय-संस्कृति के भक्त हैं। वे बुद्ध धर्म से भी बहुत प्रभावित हैं। लहर में बौद्ध धर्म सम्बन्धी दो बड़ी सुन्दर कविताएँ मिलती हैं।

'अरी बरुणा की शान्त कछार' से आरम्भ होने वाली कविता में बौद्ध धर्म का सार बड़े सुन्दर शब्दों में दिया है। देखिए—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मंद्र।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी है रवि चन्द्र।

बुद्ध धर्म की विश्वमानवता, करुणा और दुखवाद से वे जरूर प्रभावित हैं किन्तु वे उसके शून्यवाद को नहीं मानते। वे उसके शून्य-वाद में उपनिषदों की 'नेति-नेति' की झलक देखते हैं।

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्म-वाद को नष्ट नहीं किया····उपनिषदों के नेति नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है···'व्यक्ति रूप से आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।'"

वे दुखवाद और ... ों ही मानते हैं किन्तु उतने पर

ठहर नहीं जाते। वे क्षणिक के भीतर शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और विश्वात्मा की पुकार सुनते हैं। वे उसमें अपनी वीणा के स्वर को मिला देना चाहते हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में वे एक अटल सत्ता का परिचय पाते हैं।

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए
सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह ,अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट ! हे विश्व देव ! तुम
कुछ ही ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।

(कामायनी)

प्रसादजी दुखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु उनका दुखवाद सुखवाद से विमुक्त नहीं है। संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है। यद्यपि सुख क्षणिक है तथापि वह इसलिए उपेक्षणीय नहीं है—

'अन्धकार का जलधि लाँघकर
आवेंगी शशि किरनें,

अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको॥"

× × × ×

मानव-जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का

वास्तव में सुख-दुख महत्व का खेल है यदि मनुष्य अहंकार-भाव को मिटा दे तो उसके लिए न दुख रहता है और न सुख।

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाएँ (आँसू)

यही गीता का भी उपदेश है। वास्तव में मनुष्य अहंकार को छोड़ दे तो सुख-दुख न रहे। संसार में सुख-दुख का मेल है। इसलिए सुख में दुख को भूलना नहीं चाहिए।

प्रसादजी का दुखवाद अतृप्त वासना का दुख नहीं है। सुख की अतिशयता स्वयं दुख में परिणत हो जाती है। मिलन में विच्छेद लगा रहता है। जीवन में मृत्यु की छाया का मिश्रण रहता है, इसलिए एक के हर्षोल्लास में दूसरे को न भूलना चाहिए। प्रेम में कुछ मिलना होता ही नहीं है। प्रेम के अभाव को सारा संसार पुकार रहा है किन्तु प्रसादजी कहते हैं कि उसका पाना नहीं होता उसमें देना ही होता है।

ठहर नहीं जाते। वे क्षणिक के भीतर शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और विश्वात्मा की पुकार सुनते हैं। वे उसमें अपनी वीणा के स्वर को मिला देना चाहते हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में वे एक अटल सत्ता का परिचय पाते हैं।

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए
सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?
हे अनन्त रमणीय! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट! हे विश्व देव! तुम
कुछ ही ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।

(कामायनी)

प्रसादजी दुखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु उनका दुखवाद सुखवाद से विमुक्त नहीं है। संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है। यद्यपि सुख क्षणिक है तथापि वह इसलिए उपेक्षणीय नहीं है—

'अन्धकार का जलधि लाँघकर
आवेंगी शशि किरनें,

अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको॥"

× × × ×

मानव-जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का

वास्तव में सुख-दुख महत्व का खेल है यदि मनुष्य अहंकार-भाव को मिटा दें तो उसके लिए न दुख रहता है और न सुख।

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाएँ (आँसू)

यही गीता का भी उपदेश है। वास्तव में मनुष्य अहंकार को छोड़ दे तो सुख-दुख न रहे। संसार में सुख-दुख का मेल है। इसलिए सुख में दुख को भूलना नहीं चाहिए।

प्रसादजी का दुखवाद अतृप्त वासना का दुख नहीं है। सुख की अतिशयता स्वयं दुख में परिणत हो जाती है। मिलन में विच्छेद लगा रहता है। जीवन में मृत्यु की छाया का मिश्रण रहता है, इसलिए एक के हर्षोल्लास में दूसरे को न भूलना चाहिए। प्रेम में कुछ मिलना होता ही नहीं है। प्रेम के अभाव को सारा संसार पुकार रहा है किन्तु प्रसादजी कहते हैं कि उसका पाना नहीं होता उसमें देना ही होता है।

जब उसकी स्थिति ही ऐसी है तब उसमें निराशा या असन्तोष के लिए कहाँ गुञ्जायश है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको खो देते हो हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसादजी ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी नहीं हैं। उनकी कविता में पूर्ण आस्तिकवाद की झलक है। इतना ही नहीं वे राम कृष्ण आदि के लिए भी बड़े श्रद्धा के भाव रखते हैं। कंकाल में वर्णित भारतसंघ के सम्बन्ध में कहे हुए स्वामी कृष्णशरण के वचनों में उनके धार्मिक विचारों की कुछ झलक मिल सकती है। उन विचारों में धर्म के ढोंग और आडम्बर के लिए स्थान नहीं। वास्तव में मानवता ही उनका धर्म मालूम पड़ता है। राम, कृष्ण भी उसी मानवता की मूर्ति होने के कारण उपास्य बने थे! प्रसादजी अपनी कविताओं में तो कुछ द्वैतवाद की ओर झुके मालूम होते हैं, किन्तु नाटकों में अद्वैतवाद की झलक मिलती है—

हम सब में जो खेल कर रहा प्रति सुन्दर परछाईं-सा
आप छिप गया आकर हम में फिर हमको आकार दिया
पूर्णानुभव करता है जो 'अहमित से नित सत्ता का
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणयमध्य गुञ्जार किया।

प्रसादजी यह मानते हुए मालूम पड़ते हैं कि जो कुछ होता है ठीक होता है। यह बात जनमेजय के नाग-यज्ञ में दिखलाई पड़ती है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में वेदव्यासजी को नियतिवादी दिखलाकर प्रसादजी ने इस ओर अपना झुकाव दिखलाया है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उनके विचार क्या हैं।

उनके धर्म में कर्मकाण्ड को एक गौण स्थान मिलता है। कामायनी में कर्म को श्याम चित्रित किया है। कर्म में वे हत्याकाण्ड के तो घोर विरोधी हैं। बलिदान के विरुद्ध उनके विचार स्थान-स्थान पर निकल पड़ते हैं। करुणालय में नरबलि के विरुद्ध बड़ी जोर की आवाज उठाई गई है। स्कन्दगुप्त में भी बलिदान का घोर-विरोध किया गया है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में यज्ञों का युग समाप्त किया गया है। कामायनी में भी श्रद्धा और मनुष्य-बलिदान के ऊपर ही मन मैला हुआ। इड़ा भी जन-संहार के सम्बन्ध में क्या सुन्दर उपदेश देती है।

"क्यों इतना आतङ्क ठहर जा ओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख-से जी ले"

"Live and let live" इस उपदेश को यदि जर्मनी और जापान वाले अपने हृदय में धारण कर सकें तो संसार का कितना कल्याण हो।

प्रसादजी के सामाजिक विचार बड़े उदार मालूम होते हैं। वर्ण-व्यवस्था को वे मानते हैं किन्तु वे उसको दूसरों पर अत्याचार करने का साधन नहीं बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं

"वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिये बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

स्त्रियों के अधिकारों के ये पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारी सत्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं हैं। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते। किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जायँ, माँगी हुई शरण न दें, स्वेच्छाचार करें तो आपत्ति धर्म में स्त्रियाँ

ध्रुवस्वामिनी की भाँति अपना पथ निश्चित् कर सकती हैं। इसी के साथ साथ वे स्वतन्त्र प्रेम के भी पक्षपाती नहीं मालूम पड़ते। एक घूँट में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक आनन्दजी प्रेमलता के हाथ से शरबत का एक घूँट पीकर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं।

प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सबसे हिल-मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे सुखी परिवार का आदर्श अजातशत्रु में किन सुन्दर शब्दों में वासवी के मुख से कहलाते हैं—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हो सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शांतिपूर्ण हो स्वामी का मन तो स्पृहणीय न हो क्यों घर॥

प्रसादजी के राजनीतिक विचार बड़े उदार हैं। वे गाँधीजी की भाँति राजनीति को धर्मनीति के आधीन रखना चाहते हैं। उनमें संतोष की मात्रा अधिक है। जियो और जीने दो के मानने वाले मालूम होते हैं, किन्तु मानमर्यादा के साथ। मानहीन जीवन से मरना ही भला समझते हैं। वे मर जाने को तो अच्छा समझते हैं किन्तु संहार के विरोधी हैं।

महाराज अशोक की चिन्ता में इस बात को उन्होंने भली प्रकार बतलाया है—

दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर, क्यों गूँज रही है अस्थिर
कर विजयी का अभिमान भंग, यह महादम्भ का दानव-
पीकर अनङ्ग का आसव—कर चुका महा भीषण रव
सुख दे प्राणी को मानव, तज विजय पराजय का कुढंग।

वे उस महत्वाकांक्षा के पक्षपाती नहीं जिसमें संहार हो। वे राजाओं के अवाधित अधिकार के भी हिमायती नहीं। इला कहती है—

आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्वाधित अधिकार आज तक किसने भोगा?

× × ×

लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में
ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।

कामना के भरत-वाक्य में उन्होंने बतलाया है कि राजा को प्रजा से मिलकर रहना चाहिए।

प्रसादजी की रचनाओं में स्थल-स्थल पर सुन्दर विचार भरे पड़े हैं। वे आज कल के यन्त्रवाद के भी विरुद्ध मालूम होते हैं—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

जीवन के लिए वे इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय चाहते हैं जिससे श्रद्धा के साथ मन रह सके—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म दे
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

———

'प्रसाद के काव्य में समरसता'

जिन लोगों को 'प्रसाद' जी के साथ कुछ क्षण भी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनका कथन है कि प्रसादजी का व्यक्तित्व उनकी स्मित-रेखाओं में प्रस्फुटित हो उठता था। वे प्रकृति से अत्यन्त, गम्भीर, शान्त, मितभाषी और संकोचशील थे। कभी-कभी उनके मिलने वालों को आश्चर्य होता था कि 'आँसू' की भावनाओं के गरल को पीकर भी इस कवि में पीड़ा की ऐंठन का कोई अवशेष न था। हमें यह भी ज्ञात है कि 'प्रसाद' जी का जीवन विषमताओं से रहित न था। किन्तु उलझनों के सिन्धु में तिरते रहते भी एक अद्भुत क्षमता उनमें थी। जीवन की अधिक से अधिक अनुभूति रहते हुए भी वे निर्लिप्त से जान पड़ते थे। उनकी अनुरक्ति में भी एक अद्वितीय दार्शनिक तटस्थता थी। वे रह-रह कर मुस्करा जाते थे, किन्तु उनकी मुस्कराहट अवसाद के परमाणुओं से बिलकुल अछूती न थी। उनके व्यक्तित्व में एक रहस्यपूर्ण संतुलन था और इस संतुलन के लिए उन्हें काफी साधनाएँ करनी पड़ीं। अपने हृदय की जिज्ञसा को शान्त करने के लिए जीवन भर उन्हें अनुसन्धान करते रहना पड़ा। यह अनुसन्धान आध्यात्मिक था और इसमें सफलता प्राप्त करने के पूर्व कवि को अनेक स्थलों पर मानसिक संघर्षों का सामना करना पड़ा और सुख-दुख, प्रेम-विरह के आरोह-अवरोह के मध्य उन्हें एक समतल भूमि मिली थी। इन विभिन्न परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों और स्थितियों के सामञ्जस्य को उन्होंने समरसता की संज्ञा दी।

यहाँ हम संक्षेप में 'प्रसाद' जी के काव्य में उन कड़ियों के क्रमिक विकास पर दृष्टि डालेंगे जिन्होंने अन्ततोगत्वा उनके दार्शनिक दृष्टिकोण में समरसता को इतना प्रमुख स्थान दिया।

'प्रसाद' जी के सर्वप्रथम काव्य 'चित्राधार' में छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। वह है जिज्ञासा। कवि प्रकृति को देखता है। उसके हृदय में एक गुदगुदी-सी पैदा होती है। प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं में एक धुँधला आभास मिलता है किसी ऐसी चेतना का जो इन विभिन्न आकारों में एक सूत्र-सी दौड़ती जान पड़ती है। फिर भी उसके हृदय में जिज्ञासाओं की भीड़ है और इनके साथ वह 'प्रेम-पथिक' की भूमि में प्रवेश करता है। अन्तर इतना है कि यह जिज्ञासा यहाँ पर अत्यन्त माननीय है। उसका प्रेम स्वभावतः व्यक्तिगत सीमाओं को पार कर किसी व्यापक सत्ता से मिलने के लिए विकल प्रतीत होता है। यहाँ उसे अनन्त प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रकृति और मानव दोनों के सुख-दुःख की व्यक्तिगत इकाइयों में उसे अपूर्णता का आभास होता है।

'झरना' में कवि की जिज्ञासा और भी तीव्र स्वरूप धारण कर आती है। जीवन का सूनापन, उसका विषाद अभी तक वह दूर नहीं कर पाया है। उसके जीवन में एक नवीन प्रभात आकर छिप चुका है। उसने बुद्धि के सहारे अपने जीवन का लक्ष्य तो पहचान लिया है, किन्तु उसकी भावनाओं का प्रवाह सुदूर कल्पना के शिखर को स्पर्श नहीं कर पाता। लक्ष्य और वास्तविक स्थिति में इस व्यवधान के कारण उसके जीवन में विश्राम नहीं। विश्रान्त होकर भी वह उस अन्तिम लक्ष्य का चिन्तन किया करता है—

'बढ़ उमंग सरिता आएगी आर्द्र किए रूखी सिकता।
सकल कामना स्रोत मीन हो पूर्ण विरति कब पावेगा?'

और इसी प्रतीक्षा में—

'गा रहा हूँ बस दुख का राग
मिल गया विराग में अनुराग
न वीणा ही रही वंशी कहाँ है?
हृदय हुआ है मेरा एकतारा।'

'झरना' की अमा अभी राका नहीं बन पाई है। अभाव की इस भावना की सबसे उत्कृष्ट और तीव्रतम अभिव्यक्ति 'आँसू' काव्य में हुई है। मैं यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना चाहता कि 'आँसू' केवल मानव-विरह से सम्बद्ध है या इसकी उद्भावना-भूमि आध्यात्मिक है। पर इतना अवश्य कहूँगा कि 'प्रसाद' जी के व्यक्तित्व का विकास सदा ही इन दोनों के सामञ्जस्य से हुआ है। अतएव 'आँसू' में आध्यात्मिक और शारीरिक या लौकिक चेतना का सम्मिश्रण है। किन्तु हमें तो अपने ध्यान को विशेषतः 'आँसू' के इस पक्ष पर केन्द्रित करना है कि प्रसाद' जी की समरसता की दार्शनिक भूमि के निर्माण में इसका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें हम प्रेम और विरह का समझौता देखते हैं और कवि, विरह-जन्य वेदना को भी एक वरदान के रूप में ग्रहण करता है। विरह उसके प्रेम की मांसलता को एक अत्यन्त भावनापूर्ण हृदय देता है। उसकी ज्वाला कल्याण की धात्री है। अपनी ज्वाला को सम्बोधित कर कवि कहता है—

'निर्मम जगती को तेरा,
मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।

'यहां मिलन और विरह, आसक्ति और विरक्ति दोनों एक दूसरे के आलिङ्गन में आकर एक हो गए हैं।

यहाँ 'आंसू' और कामायनी के बीच भी एक सुन्दर शृङ्खला है। 'लहर' और कामायनी की मानसिक भूमि में उतना अन्तर नहीं जितना दोनों की कला और दृष्टिकोण में। यहाँ उनकी कला के विवेचन से हमारा सम्बन्ध नहीं। दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद यह है कि व्यापक जीवन-दृष्टि हमें 'लहर' में नहीं मिलती। कामायनी ने तो हमारे जीवन के आध्यात्मिक से लेकर अत्यन्त भौतिक पक्षों को भी समरसता के भाव से रञ्जित कर दिया है। 'लहर' में हम प्रेम और विरह से आगे बढ़

कर मानव-जीवन के अनेक पक्षों जैसे आशा और निराशा, राग और विरक्ति इत्यादि की ओर भी कवि का इङ्गित पाते हैं। मानव-जीवन की उद्भावना कवि इस प्रकार करता है—

'वसुधा के अञ्चल पर,
यह क्या कन-कन सा गया बिखर।
जल-शिशु की चञ्चल क्रीड़ा-सा
जैसे सरसिज दल पर,
लालसा निराशा से दल मल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे! मानव-जीवन।'
कितना है रहा निखर।'

इसी लिए वह अपनी मानसिक शक्तियों को जीवन में सामञ्जस्य-जन्य सुन्दरता के प्रतिपादन के लिये प्रेरित करता है—

'ओ री मानस की गहराई!

  

तेरा विषाद द्रुत तरल-तरल
मूर्छित न रहे ज्यों पिये गरल,
सुख लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,
तू हँस जीवन की 'सुघराई।'

'कामायनी' इसी संकेत को हमारे समाने खोल कर रख देती है और इसके लिए एक विस्तृत जीवन-पीठिका की योजना भी करती है। कथा का उद्गम जीवन में समरसता के अभाव और उसका अवसान समरसता के निर्माण में है। देव-सृष्टि का नाश इसलिए होता है कि उन्होंने 'अहं' की निरंकुश साधना में सुख की सीमाओं का उल्लङ्घन कर दिया। मनु जब निराशा से आक्रांत है उस समय नवीन सृष्टि का संदेश देते हुए श्रद्धा मनु से इस प्रकार कहती है—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्,
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण-जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
निखरते सुखमणि गण द्युतिमान्।

मनु और श्रद्धा का विछोह भी मनु के हृदय में एकांगी वासना के कारण होता है। वे श्रद्धा के प्रति अपने प्रेम को वासनापूर्ण एकाधिकार में परिणत करना चाहते हैं—

"यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार!
केवल मेरी ही चिंता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।"

मनु और इड़ा का संयोग, जो बुद्धि का प्रतीक है, श्रद्धा और मनु के व्यवधान को और भी बढ़ा देता है। तभी से सारस्वत प्रदेश में बुद्धिवाद के निरन्तर विकास के साथ-साथ दुःख की नींव और भी दृढ़ होती जाती है। इस भौतिकवाद की एकान्त उपासना में भी उपद्रव खड़े होते हैं। सारस्वत प्रदेश ने इड़ा और मनु के नेतृत्व में प्रकृति के साथ संघर्ष कर वर्णों की सृष्टि की है, श्रम का विभाजन किया है, शस्त्रों और यन्त्रों का आविष्कार किया है। किन्तु यहाँ जब मनु इड़ा पर भी 'निर्बाधित अधिकार' चाहते हैं तो सारा प्रजातन्त्र विद्रोह कर उठता है और अपने नायक पर आक्रमण करता है। इड़ा ने मनु को समझाया कि मनुष्य का जीवन सङ्घर्षमय है और सङ्घर्षों में उसका विकास है। किन्तु श्रद्धा फिर मनु से मिलकर उन्हें ठीक राह पर लाती

है और जीवन में समरसता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए सङ्घर्ष का खण्डन करती और इड़ा को उसकी भूल बतलाती है—

"जीवन-धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;
ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर;
तू रुक-रुक देखे आठ पहर;
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर;
सुख-दुख की मधुमय धूप-छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह ।"

इसी समरसता के आधार पर जीवन को ले चलाने का संकेत हमें उस समय मिलता है जब श्रद्धा मनु और अपने प्रेम के फल—श्रद्धामय और मननशील मानव को इड़ा के साथ छोड़ जाती है ।

इस समरसता का पूर्ण प्रतिपादन श्रद्धा मनु को कैलाश से 'इच्छा' 'ज्ञान' और 'कर्म' के अरुण, उज्ज्वल और श्यामल आलोक-गोलकों को दिखला तथा उनकी एकाँगिता-जन्य अपूर्णता की ओर संकेत करती है । 'इच्छा' का लोक जीवन की मध्य भूमि है, जिसमें सुख और दुःख दोनों हैं । 'ज्ञान' लोक में सुख और दुःख दोनों के प्रति उदासीनता है । 'कर्म' का लोक संघर्ष का लोक है, जहाँ सुख दुःख में परिणत हो जाता है, जहाँ स्थूलता के सामने भाव का कोई मूल्य नहीं । ये तीन लोक पृथक-पृथक हैं, जिसके फलस्वरूप—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों हो पूरी मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।"

और इन्हीं तीन लोकों को श्रद्धा अपने स्मित से एक कर देती है । वही सर्वोपरि आनन्द की स्थिति है और ऐसे लोक में—

"शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।"

संक्षेप में 'प्रसाद' के काव्य में समरसता के क्रमिक-विकास की रूप रेखा यहाँ अङ्कित की गई हैं। समरसता उनकी विचार-धारा की प्रधान दिशा है। यह केवल व्यवहार कुशलता नहीं, वरन् इनका निर्माण हमारी अनुभूति के सारे अवयवों को लेकर हुआ है। यह माना जा सकता है कि इस समरसता का एक व्यवहारिक रूप भी है, किन्तु व्यावहारिकता की उनके दर्शन की अन्तिम परिभाषा नहीं। साथ ही वह योगियों का निर्वेद भी नहीं। 'प्रसादजी' की सहृदयता को देख कर कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उनका दर्शन वैराग्य का दर्शन है। उनका आनन्द तटस्थता-जन्य नहीं, उनका सङ्गीत तो हमारी चेतना के गह्वरों में बहते अनेक निर्झरों का सम्मिलित सङ्गीत है। उनकी समरसता में उदासीनता का सन्देश नहीं; उसका सन्देश तो है जीवन के विविध रसों का आस्वादन करते हुए भी अपने को निर्लिप्त रखना। कोरा 'सन्यास' जीवन के लिए घातक है और ईश्वर की सृष्टि का अपमान है। इससे व्यक्तित्व के कुण्ठित होने की आशङ्का रहती है; यह मानव चेतना की पुकारों का गला घोंटना है। व्यक्तित्व की एक-एक पूर्ण इकाई में एक-एक विश्व सन्निहित रहता है। 'प्रसाद' जी के शब्दों में—

"यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित।"

चेतना की बहुमुखी सजगता का अभाव जीवन की अपूर्णता है और अतिक्रमण जीवन का अभिशाप। यही 'प्रसादजी' की व्यापक दृष्टि का रहस्य है। एकांगिता की अपूर्णता का परिचय देकर हमारे आधुनिक भौतिकवाद को चेतावनी देते तथा हमारी चेतना के लिए एक

नवीन आधार भूमि की योजना करते हैं। वे जीवन का उत्कर्ष आनन्द की प्राप्ति मानते हैं। और समरसता को उस आनन्द का उद्गम स्रोत बतलाते है। उनके अनुसार जीवन में सुख-दुख, प्रेम-विरह इत्यादि के निरपेक्ष भाव हम में समरसता के अभाव के कारण हैं। 'कामायनी' की यही मूक-भावना श्रद्धा के स्वप्न के उस प्रश्न का—

'जीवन में सुख अधिक या कि दुख,
मन्दाकिनी कुछ बोलोगी।
नभ में नखत अधिक सागर में,
या बुद-बुद हैं गिन दोगी?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुझ में,
सिन्धु मिलन को जाती हो।
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के,
इस रहस्य को खोलोगी।

—उत्तर है! जीवन के स्पन्दन स्पन्दन हैं। उन पर सुख दुःख का आरोप हमारी अविकसित चेतना की अपूर्णता का चिह्न है। यदि हमने अपने व्यक्तित्व को विश्व की विशालता दे दी तो प्रत्येक स्पन्दन आनन्द का स्पन्दन है—हम नहीं कह सकते सुख का या दुःख का। 'प्रसादजी' इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखते हैं—हमारी आवश्यकता है अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय। यही आनन्द लेख है और यही जीवन की शाश्वत् स्थिति है।

प्रसादजी का प्रकृति-वर्णन

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी।
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी॥ —प्रसाद

कविता, संसार के प्रति हमारी भावमयी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है। उसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध, जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों ही शामिल हैं, स्थापित होता है। कवि मानव तथा मानवेतर सृष्टि के जिसमें जल, थल, आकाश के सभी दृश्य तथा उनमें विचरने वाले जीव-जन्तु शामिल हैं, सम्पर्क में आता है और अपनी समवेदन-शीलता के अनुकूल उनको अपनी भावना का विषय बनाता है। वैज्ञानिक का भी सृष्टि के साथ सम्बन्ध रहता है किन्तु वह रागात्मक नहीं होता। उसके लिए सुन्दर-असुन्दर और प्रिय-अप्रिय कोई अर्थ नहीं रखते।

साहित्य में दोनों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन हुआ है किन्तु मानव-सृष्टि का अधिक। इसका कारण है रागात्मक सम्बन्ध के लिए प्रति-स्पन्दन आवश्यकता नहीं है किन्तु उसके होने से सम्बन्ध में दृढ़ता आ जाती है। मानव सृष्टि में भावों के प्रतिफलन की जितनी सम्भावना रहती है उतनी मानवेतर सृष्टि में नहीं, यद्यपि उसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। कवि स्वयं मनुष्य होने के नाते मानव-हृदय की सूक्ष्माति-सूक्ष्म भाव-लहरियों का सुविधापूर्वक अनुमान कर सकता है। मनुष्य की मुखाकृति भाव-भङ्गियाँ और वे सब शारीरिक दशाएँ और चेष्टाएँ जो अनुभावों के अन्तर्गत मानी जाती है इस प्रकार के अनुमान की साधिका बनती हैं। इनके अतिरिक्त भाषा तो आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की सहज माध्यम है ही। जानवरों में, कम से कम उनमें

जो विकास-क्रम में ऊँचा स्थान पाते हैं, हमारी सी भाषा का अभाव होते हुए भी प्रायः हमारे से ही भावों के सूचक अनुभाव होते हैं। उनके द्वारा जानवरों के मनोगत भावों का कुछ अन्दाज लग जाता है और किसी न किसी रूप में उनमें चेतना का भी अस्तित्व मिलता है। उनसे हमको अपने भावों के प्रतिस्पन्दन की आशा रहती है। वे रागात्मक सम्बन्ध की अधिक क्षमता रखते हैं किन्तु उसका साहित्य में अधिक लाभ नहीं उठाया गया है। वे अन्योक्तियों का विषय बनाये गये हैं और कहीं-कहीं उनके भावों का भी वर्णन हुआ है—जैसे सूर ने श्रीकृष्णजी की गौओं का और तुलसी ने रामजी के घोड़ों का विरह-वर्णन किया है।

मानव शरीर के उपमानों के रूप में जानवरों के सौन्दर्य का भी वर्णन हो गया है—जैसे मृगशावकाक्षी, गजगामिनी। अब प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति के साथ हमारा किस अर्थ और किस अंश में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों ही रूप देखने में आते हैं। वह हमको हँसती-रोती उद्वेलित और उल्लसित होती हुई प्रतीत होती हो किंतु हम उतने निश्चय के साथ नहीं कह सकते हैं कि उसके हासोल्लास और गर्जन-तर्जन के पीछे कोई चैतन्य या भावमय आधार है या नहीं? जानवरों के सम्बन्ध में मानवी भावों का अनुमान ही किया जाता है किन्तु जड़-प्रकृति में उनका आरोप सा करना पड़ता है। कभी-कभी यह आरोप इतना सच्चा और सजीव होता है कि भावुक हृदय का प्रकृति के साथ भावों का आदान-प्रदान होता सा मालूम पड़ता है।

प्रकृति में भावमयी चेतना चाहे हो या न हो किन्तु उसमें हमारे भावों को जाग्रत और उद्दीप्त करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। रही, तिस्पन्दन की बात, वह तो कभी-कभी मानव-सृष्टि में भी नहीं होता दिखाई देता। बहुत-से लोग अपने स्रष्टा की भाँति ही प्रतिस्पन्दन-शून्य होते हैं फिर विचारी जड़ प्रकृति से क्या आशा की जा सकती है? हमारे

भावों का प्रकृति पर कोई असर पड़ता है या नहीं इस बात को सर जगदीशचन्द्र वसु भी प्रमाणित नहीं कर सके, किन्तु हमारे मनोभावों के कारण प्राकृतिक दृश्यों के अनुभव में अवश्य अन्तर पड़ जाता है और वे भी हमारे भावों की गति-विधि में थोड़ा अन्तर डाल देते हैं। प्रकृति हमारी धातु है। उसके जलवायु से हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, उससे हम भाग नहीं सकते हैं। मौन रहते हुए भी वह हमको सहचार सुख देती है। हमारे सम्पर्क में आने से जड़ पदार्थ भी हमारे मोह और आसक्ति का विषय बन जाते हैं। जो लोग प्रकृति में विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानते हैं उनके लिए प्रकृति को चेतन मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती किन्तु उसको व्यक्तित्व प्रदान कर उसके मानवीकरण में कल्पना को जाग्रत करना पड़ता है; शायद उतना ही जितना कि नाटकों में नट को दुष्यन्त मान लेने में। रूपकों में जितना आरोप द्वारा हमको आनन्द मिलता है उतना हमको प्रकृति के मानवीकरण से भी प्राप्त हो सकता है। वर्णन में सजीवता चाहिए और पाठक में ग्राहक हृदय। वस्तु में भावारोप के लिए जितनी क्षमता चाहिए उतनी प्रकृति में मिल जाती है। हम यदि सच्चे मानव हैं तो मानवता के विस्तार में हमको आनन्द ही मिलेगा। अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किसे आनन्द नहीं मिलता ? कुछ अंग्रेजी आलोचकों ने प्रकृति को अपने साथ रुलाने-हँसाने को संवेदना का तर्काभास (Pathatic Fallacy) कह कर उसे वर्ज्य सा ठहराया है। जायसी आदि ने प्रकृति की मानव के साथ सहानुभूति दिखाई है किन्तु जहाँ उत्प्रेक्षा लगाई जाती है वहाँ ऐसा वर्णन दूषित नहीं रहता।

प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन जाती है। आस्तिकता का आधार पाकर उनकी प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्योपासना कुछ गहरी हो गई थी किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि प्रसादजी का प्रकृति प्रेम कहाँ तक स्वयं उसके लिये

नहीं है। परमात्मा की चेतनता से व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार मानव प्रेम का महत्व नहीं घटता उसी प्रकार प्रकृति का भी नहीं।

प्रकृति को आवलम्बन रूप से देखने के लिए शान्त हृदय चाहिए। आजकल की सभ्यता में हम प्रतिद्वन्द्विता और रोटी के राग में इतने फँसे रहते हैं कि हमको प्राकृतिक सौन्दर्य के निरीक्षण का अवकाश ही नहीं मिलता। सौन्दर्यानुभूति के लिए भावुक हृदय चाहिए; उसके बिना न मानव सौन्दर्य है और न प्राकृतिक। वास्तव में प्रकृति और पुरुष दृश्य और द्रष्टा तथा सौन्दर्य और उसके अनुभवकर्त्ता में एक प्रकार का आदान-प्रदान रहता है। सुन्दर वस्तु में भी हृदय की जड़ता को दूर करने की शक्ति रहती है और जैसे-जैसे हृदय की जड़ता दूर होती जाती है वैसे ही सौन्दर्यानुभूति बढ़ती है। यह दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रसादजी ने इस बात को पूर्ण रूपेण हृदयङ्गम किया है। प्रकृति के हृदय को विकसित करने की स्वाभाविक शक्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं।

नील नीरद देखकर आकाश में।
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश में?
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है?
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है?

❀ ❀ ❀

देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ।
प्राण भी आमोद से प्रमुदित हुआ।
रस हुआ रसना में उसको बोलकर।
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर।

जब चातक श्याम घन को देखकर तथा चकोर कलानिधि राकेश को देखकर उल्लसित हो उठता है तब मनुष्य ही सौन्दर्योपासना से क्यों वञ्चित रहे। प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन मात्र ही रसना को रसमय बना देता है और हृदय को विकसित करता है।

यह प्रकृति की शक्ति है। किन्तु उसके रस का पूरा आनन्द लेने के लिए हृदय में भी भावुकता चाहिए। जहाँ प्रकृति हृदय को उल्लसित कर सकती है वहाँ हृदय की ग्राहकता उसको अनुपम छटा प्रदान करती है।

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौन्दय।
चन्द्रिका सा उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदु हास॥

वास्तव में जब तक अनुकूल ग्राहक पात्र न हों तब तक सौन्दर्य को स्थान कहाँ मिलेगा। यदि हृदय में स्वार्थ भरा है और उनके कारण वह संकुचित बन गया हो तो उसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती। प्रकृति में सौन्दर्य की कमी नहीं, कमी हमारी ग्राहकता की है।

नील नभ में शोभित विस्तार।
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर हृदय परमिति, पूरित स्वार्थ।
बात जंचती कुछ नहीं यथार्थ।

प्रसादजी सकल प्राकृतिक सौन्दर्य को परमात्मा के सौन्दर्य की ही झलक मानते हैं।

लोग प्रिय-दर्शन बताते इन्दु को।
देखकर सौन्दर्य के एक बिन्दु को।
किन्तु प्रिय दर्शन स्वयं सौन्दर्य है।
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।

और देखिए:—

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना।
वो देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हँसने की धुनि में नदियाँ।
निनाद करती ही जारही हैं॥

उपनिषदों में कहा है कि उसके प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसके ही प्रकाश से सब आलोकमय हैं। 'तमेवभान्तिमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। प्रसादजी की प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना का भी यही आधार है। वे प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते हैं। कभी तो उसे वे लीलायम की क्रीड़ा के रूप में देखते हैं और कभी परमात्मा के रहस्य को दुर्भेद्य रखने के लिए अवगुण्ठन रूप मानते हैं।

वृत्त आकृत कुंकुमारुण कंज-कानन मित्र है।
पूर्व में प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है॥
कल्पना कहती है, कन्दुक हैं महाशिशु खेल का।
जिसका है खिलवाड़ इस संसार में सब मेल का॥

❀ ❀ ❀ ❀

बनके दक्षिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते।
अलि बने मकरन्द की मीठी झड़ी हो झेलते॥

❀ ❀ ❀ ❀

देके उषा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी।
भाल के कुङ्कुम-अरुण की देदिया बिन्दी खरी॥

प्रकृति, रमणी के अवगुण्ठन की भाँति अपने भीतर रहने वाले सौन्दर्य के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा का भाव उत्पन्न कर देती है। प्रकृति के प्रति यह जिज्ञासा भाव एक प्रकार रहस्य-भावना को जन्म देती है। कामायनी में इस प्रकार के और भी कई स्थल हैं।

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मयि,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं संधान,
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ?

सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?

❀ ❀ ❀ ❀

सौन्दर्यमयी चञ्चल कृतियाँ,
बनकर रहस्य, हैं नाच रहीं।
मेरी आँखों को रोक वहीं,
आगे बढ़ने से जाँच रहो।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह क्या सब छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस परदे में,
क्या अन्य धरा कोई धन है?

प्रसादजी की दृष्टि में प्रकृति का महत्व केवल परमात्मा की संदेश-वाहिका होने मात्र का नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से भी उनके आकर्षण का विषय है। प्रकृति को भावना का विषय बनाने में प्रायः उनका मानवीकरण भी हो जाता है क्योंकि जहाँ चेष्टाओं का वर्णन होता है वहीं उसमें मानवी भावों का आरोप होने लगता है। प्रसादजी ने प्रकृति को सौम्यरूप में भी देखा है और उसके विकराल रूप में भी। प्रकृति के एक मनोहर रूप का वर्णन:—

रम्य-कानन की छटा तट पर अनोखी देखलो।
शान्त है, कुछ भय नहीं है, कुछ समय तक मत टलो॥
अन्धकार घना भरा है लता और निकुञ्ज में।
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाती है उन्हें सुख पुञ्ज में॥

❀ ❀ ❀ ❀

पवन-ताड़ित नीर के तरलित तरङ्गों में हिले।
पङ्क, सौरभ-मंजु युत ये कञ्ज कैसे हैं खिले॥
या प्रशान्त विहायसी में शोभते हैं प्रात के।
तारका-युग शुभ्र है आलोक पूरण गात के॥

नीले नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे।
बिना स्वाति-बिन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे॥

प्रकृति के विशालतम सौन्दर्य का यदि वर्णन देखना हो तो कामायनी के रहस्य सर्ग में हिमालय का वर्णन देखिए:—

नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुरधनु माला पहने
कुञ्जर कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने
प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे
महा श्वेत गजराज गण्ड से
बिखरीं मधुधारायें जैसे।

एक विकराल रूप का चित्रण देखिए—

पंचभूत का भैरव मिश्रण
शंकाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात
उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आरही फेन उगलतीं
फन फैलाये व्यालों सी
धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास

ऐसे वर्णनों में प्रकृति की मुख्यता रहती है। उसके सामने मानव भयाकुल तुच्छ जीव सा रहता है किन्तु जहाँ प्रकृति का मानव के

सम्बन्ध में वर्णन होता है वहाँ वह गौण हो जाती है। मानव सम्बन्ध में प्रकृति का तीन प्रकार से वर्णन हो सकता है (१) केवल उद्दीपन रूप से (२) मानव सुख दुख में संवेदना प्रकट करने वाली सहचरी के रूप में (३) मानव क्रिया-कलाप के अनुकूल पृष्ठ भूमि के रूप में।

प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णनों की हिन्दी-साहित्य में कमी नहीं है। यहाँ पर कामायनी से एक उद्धरण दिया जाता है। देखिए:—

सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग;
राग रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
और हँसता था, अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ।
चले दोनों, स्वप्न पथ में स्नेह संबल साथ।
देवदारु निकुञ्ज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध,
पवन के घन गिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध
शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत।
सोरही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रान्त।
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कान्त।

इसमें उद्दीपन भाव तो है ही उसी के साथ मनु और श्रद्धा की मानसिक दशा की सानुकूलता भी है। शिथिल अलसाई पड़ी छाया में प्रकृति का मानवीकरण भी है। ऐसे वर्णनों में प्रकृति सहानुभूति व्यञ्जित अवश्य रहती है। प्रसादजी ने स्थान-स्थान पर प्रकृति को मनुष्य के साथ-साथ रोती और हँसती भी दिखाया है। किन्तु जायसी की भाँति नहीं। जायसी ने प्रकृति की सहानुभूति को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर कुछ अस्वाभाविकता उत्पन्न करदी है।

प्रसादजी ने प्राकृतिक वातावरण को मनुष्य के भावानुकूल किया

है। ऐसी भावानुकूल पृष्ठ-भूमि चित्र को अधिक सुन्दरता प्रदान करती है। आदि सर्ग में ही देखिए:—

दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिन्धु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।
उसी तपस्वी से लम्बे थे,
देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर,
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

आशा सर्ग के आरम्भ में ही प्रकृति आशामय रूप धारण कर लेती है और भावी घटना की सूचना सी देने लगती है। श्रद्धा के मिलने के लिए मन को विकास देने वाला वातावरण तैयार हो जाता है।

प्रकृति का मङ्गलमय रूप देखिए—

उषा सुनहले तीर बरसती।
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि सी,
जल में अन्तर्निहित हुई।

  

नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे-धीरे हिम-आच्छादिन,
हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं,
मुख धोती शीतल जल से।

  

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये सी ऐंठी सी।

इस वर्णन की शब्दावली में मङ्गलमय प्रेम और श्रृङ्गार के भाव मकरन्द की भाँति झरते से दिखाई पड़ते हैं। उषा की सुनहली किरणें समृद्धि की वर्षा सी करती हैं। जय-लक्ष्मी शब्द में विजयोल्लास ही नहीं वरन् उसके साथ आने वाली सुख-सम्पत्ति की भी सूचना है। आलोक भी प्रेम प्रकट करता हुआ हिम को हेम बना देता है और श्वेत सरोजों में मधुमय पीला पराग भर देता है। वनस्पतियों का जगना बड़ा सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है। इसमें भाग्य के जागरण की व्यञ्जना है। इसी के साथ वर्षा के पश्चात् पानी के कुछ कम होने पर पानी पर झुकती हुई वनस्पतियों की मुँह धोने की प्रातः क्रिया का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित होता है। इसमें थोड़ा मानवीकरण भी है।

'सिन्धु सेज पर धरा वधू' को सुलाकर विशालता में सौन्दर्य भावना उत्पन्न की गई है। वधू शब्द में भी एक भावी वधू के आने की और पीछे से उसके मान की सूचना मिल जाती है। इसी के साथ मानवती बनाकर उसकी शोभा को भी बढ़ा दिया है। संकुचित और ऐंठी में अभिधा और लक्षणा का बड़ा सुन्दर सहयोग है। जल से डूबी हुई जो वस्तुएँ निकलती हैं वे कुछ दबी सी और ऐंठी होती हैं पृथ्वी के पक्ष में अभिधार्थ है और वधू के पक्ष में लाक्षणिक अर्थ है।

इसमें 'सी' उपमा वाचक लग जाने से मानवीकरण होते-होते बच गया है।

प्रसादजी में प्रकृति के शुद्ध मानवीकरण की कमी नहीं है। हमको उनके प्राकृतिक चित्रों में मानवी कार्यों का आरोप स्थान-स्थान पर मिलता है। देखिए:—

अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी

❀ ❀ ❀

लो यह कलिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

प्रसादजी की छायावादी प्रवृत्तियाँ उनकी किरण शीर्षक कविता में बड़ी स्पष्ट रूपरेखा में दिखाई पड़ती हैं। इससे प्रकृति मानवीकरण के साथ छायावादी शैली का भी नमूना मिलता है, देखिए:—

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल—
वेदना-दूती सी तुम कौन ?

प्रसादजी ने रूपकों में भी सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग किया है। अपने जीवन में मधुऋतु की सृष्टि करते हुए प्रसादजी ऋतुराज का पूरा दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

चुम्बन लेकर और जगाकर,
मानस नयन नलिन को।
जवाकुसुम सी उषा खिलेगी,
मेरी लघु प्राची में।
हँसी भरी उस अरुण अधर का,
राग रँगेगा दिन को।

अन्धकार का जलधि लाँघकर,
आवेंगी शिशु किरनें।
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन,
निशि में मधुर तुहिन को।

प्रकृति के लिए और भी बहुत से सुन्दर रूपक और उपमाएँ मिलती हैं संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रसादजी ने प्रकृति का आध्यात्मिक आधार मानते हुए उसके द्वारा अपने प्रियतम परमात्मा की सी क्रीड़ा का अभिव्यक्ति कराई है, उसी के साथ-साथ उसका आलम्बन, उद्दीपन और अलङ्कार विधान में अप्रस्तुत रूप से भी वर्णन किया है।

———

प्रसादजी की भाषा

कवि अपना कवि-कर्म करता हुआ भाषा से सम्बद्ध हो जाता है। उसका काव्य भाषा बनकर उद्गारित होने लगता है। इस उद्गार पर उसकी अपनी अभिव्यक्ति का भार होता है। भाषा अथवा उद्गार यद्यपि उसके सम्पूर्ण अन्तरत्व को प्रकाश नहीं करतीं और उसमें जो कुछ प्रकट है वह भी उसकी सम्पूर्णता नहीं—वह सब तो उसके अपने अन्तर-विराट के स्फुलिंगों की धारा मात्र है। फिर भी वह अन्तरत्व के लिये ही है। जहाँ कवि केवल इस स्फुलिंग धारण को दिखाने के लिए अन्तर-वह्नि को जागरित करता है, और जहाँ वह अन्तर-वह्नि की प्रबल उद्दीप्ति से विवश हो भाषा-स्फुलिगों को रोक नहीं सकता। इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर है--दूसरी अवस्था में कवि का अन्तर ठीक अनुवादित हो रहा है। पहली अवस्था में छद्म कवि में आ जाता है।

कवि के पास भाषा-संकेतों के अतिरिक्त और कोई साधन निजी भाव विनिमय का नहीं। भाषा वह माध्यम है जो उसको जानने वाले व्यक्तियों के मानस-धरातल को एक कोटि में लाकर रख देता है। कवि इसी साधन को जितनी कुशलता से काम में लाना जानता है, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति ऊँची होती है, उतना ही वह सौन्दर्य का दर्शन कराने में अधिक सफल होता है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक भाषा के विभिन्न वर्ग होते हैं। उसकी सीढ़ियाँ होती हैं—और उसका सबसे निचला डंडा वहाँ होता है जहाँ केवल अपनी आवश्यकताओं भर से घिरा हुआ अभावुक मानस अपना दैनिक व्यापार-सम्पादन करता है और अपने तन्मात्र अस्तित्व से आगे मानस का विस्तार करना ही नहीं जानता और उसका सबसे ऊपरला डंडा वहाँ होता है जहाँ कला-विलासी मनुष्य इस जगत-जीवन के सारे भूः भुवः—तल और अन्तरिक्ष

को आत्म-सात करता हुआ स्वः-रहस्य लोक में झाँकने लगता है और वहीं वह सीढ़ी अपनी शक्ति की ऊँचाई की पराकाष्ठा के छोर पर पहुँचा कर उस विराट अन्तर्लोक में अपनी असमर्थता और क्षुद्रता अनुभव करती है, वहीं पहुँचकर मनुष्य और ऊपर उठने की चेष्टा करता प्रतीत होता है और उस सीढ़ी में कुछ और वृद्धि करने में भी लगता है—एक ही वस्तु की तारतम्यात्मक अवस्था होते हुए भी प्रथम और अन्तिम अवस्थाओं में पाताल और आकाश का अन्तर है—और इन दोनों ओर-छोर के बीच कितनी ही क्रमागत अवस्थायें हैं—और एक ही कार्य में जैसे-जैसे वह मानव-मेधा में व्यवहार-व्यापार की अपनी अन्तिम श्रेणी से उत्तरोत्तर ऊपर उठता चलता है, उसका मानस-क्षेत्र अधिकाधिक प्रकाश से प्रोद्भासित होता हुआ क्रमागत कला-विलास, सौन्दर्य और शिल्प के सत्य का दर्शन करता चलता है। वह भाषा की भी वैसी ही सीढ़ियाँ चढ़ता चलता है।

प्रसादजी ने जिस अन्तरिक्ष में पहुँचकर ऊँचा झाँकते-झाँकते अपने कवि-कर्म की इति घोषित की है वहाँ से नीचे देखने पर यद्यपि गहराई बहुत अधिक दीखती है, पर उन्होंने डंडे बहुत कम उल्लङ्घन किये हैं। कारण यह है कि प्रकृति-स्थिति ने उन्हें भाषा की बहुत उच्च-कक्षा में आरम्भ से ही पहुँचा दिया था। उनकी संस्कृत मनोवृत्ति ने चुनी, सुघर और सुकर भाषा को आरम्भ से ही अपना माध्यम चुना। ऐसा केवल हम उस भाषा के सम्बन्ध में कह रहे हैं जो उनकी अपनी भाषा है। यों तो सब से पहले जिसमें लिखा वह भारतेन्दु खेवे की भाषा थी—वह ब्रजभाषा कही गयी थी, उसमें प्रसादजी ने कवितायें कीं और अनुभव किया कि वह उनके लिए विभाषा है। उसको उन्होंने त्याग ही नहीं दिया, वरन् अपनी पूर्व ब्रज-भाषा कृतियों का दूसरा संस्करण उन्होंने अपनी निजी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित करा दिया। प्रेम-पथिक एक इसका उदाहरण है, जिसके प्रथम संस्करण के निवेदन में कवि ने लिखा है—

"केवल इतना कह देना अधिक न होगा कि यह काव्य व्रजभाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था,............यह, उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्त-विहीन हिन्दी रूप है।"—और वह हिन्दी व्रजभाषा से भिन्न उनकी अपनी भाषा है। यद्यपि उन्होंने इसको यह रूप देने का कारण दिया नहीं पर वह इतना स्पष्ट इतना नंगा है कि न कहना ही ठीक था—और इस प्रेम-पथिक की आरम्भिक पंक्तियों में हम क्या देखते हैं—

सन्ध्या की, हेमाभ तपन के, किरणें जिसको छूती हैं
रञ्जित हैं देखो जिस नई चमेली को मुद से

और यहीं से यदि उनका आरम्भ मानें तो भाषा की निचली सीढ़ी कितनी गहराई में दीखती है—इतने ऊँचे धरातल से कवि ने आरम्भ किया और ऊँचा उठाने की चेष्टा की। उसे अब भाषा मिल गई थी और वह कवि-कर्म में अपने मनोनुकूल संलग्न हुआ।

उसने 'कामायनी' में आकर अपनी कवि-वाणी को विश्रान्ति दी—और यहाँ तक भाषा को भी वह उठा ले गया।

भाषा और भाव का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं कि बिना भाषा के भाव और बिना भाव के भाषा अपना अस्तित्व नहीं रख सकते—इससे भी आगे इसका अर्थ यह भी है कि भाव के अनुकूल भाषा बनती है और भाषा के अनुकूल भावों की सृष्टि होती है और एक अपने साथ दूसरे को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है। किन्तु हर काल में ऐसी अवस्था नहीं रहती। कभी भावों का ऐसा विपुल जागरण होता है, कभी भाव वस्त्रों की भाँति एक के ऊपर एक ऐसे उच्च स्थित होते चले आते हैं कि उस तुमुल में भाषा लुप्त हो जाती है। वह जो कुछ कहना चाहती है, केवल संकेत-बिन्दु-मात्र का रूप धारण कर कहती है—वह तब पूर्ण अर्थ को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वह उसको अपनी अशक्त अपूर्णता के साथ केवल ध्वनित करती है—तब अर्थ वाच्य से काम अधिक हो

जाता है—किन्तु इससे पूर्व कवि में वह अवस्था मिलती है जहाँ भाव से अधिक भाषा का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में कवि जितने भी भाव लाता है वे शब्दमय होते हैं। एक एक भाव के जितने भी अधिक से अधिक शब्द हो सकते हैं उतने शब्दों में व्यक्त होता है। तब कवि बजाता अधिक है गाता कम है। वह हृदय का रस शब्दों में कम उँडेल पाता है—शब्दों के रस को ही उलटा हृदय में उँडेलना चाहता है। प्रसादजी के साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं लगती।

उनमें हमें आरम्भ से ही विशिष्ट गम्भीरता मिलती है। उनकी भाषा की भँवे भीषण आवेगावस्था में भी विकृत नहीं होतीं, यों एक-आध कम हो जाने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं—किन्तु वह चञ्चलता हास्य, क्रोध, करुणा, भाषा में खिलखिलाहट अथवा विकलता का उद्भास एक प्रकार से शून्य ही है।—एक मन्थर गति का विधान—एक अन्तर स्थिरता की जमी हुई जड़—अडिग और अचल सुमेरु सी आदि से अन्त तक के काव्यों में हमें मिलती है।

ऐसी अवस्था में केवल शब्द-सौन्दर्य के बाह्य-उपकरणों का विकास प्रसादजी को नहीं मिलेगा। प्रेम-पथिक की भाषा और भाव की संयोजना में निस्सन्देह शब्दों का आवरण गहरा अवश्य है किन्तु उस मूर्त गम्भीरता के कारण वे दिवालिया नहीं लगते। तक-विहीनता ने उस दरिद्रता का विभ्राट और भी नहीं होने दिया। करुणा-स्थल प्रेम-पथिक में आया है—

फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने। हाँ,
सचमुच ऐसा करुण दृश्य करुणानिधि को भाता है
कृपा नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती है
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
करे प्रशंसा किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम, करुणा, गङ्गा-यमुना की धारा बही नहीं।

× × × ×

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू के बूँद !
हृदय-सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिरदुःखो के परम उपाय !

इन पंक्तियों की भाषा उतार-चढ़ाव शून्य है। करुणा के चित्र का व्यङ्ग्य इसमें अवश्य है। आँसू की उक्ति में कितनी विशद भावुक कल्पना है, पर वह उतनी वाच्य नहीं। शब्दों ने अपनी भंगिमा से कुछ नहीं कहना चाहा जो कुछ उन्हें कहना हुआ है वह ध्वनि से कहा है। शब्द एकक्रम शान्त में वाक्य के आरम्भ से अन्त तक हैं। दुखी उच्छ्वासों का भौतिक शब्दानुवाद इन पंक्तियों में नहीं—और वह कवि में कहीं भी नहीं। जहाँ थोड़ा बहुत ऐसा विकलत्व कवि ने दिखाना पसन्द किया है वहाँ भाषा की अपेक्षा, आरम्भिक अवस्था में, छन्द की गति के उद्वेलन से प्राप्त किया है। लहर में संकलित 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' को देखकर यह जाना जा सकता है। उनमें कुछ विकलत्व है, वह छन्द की गति के क्षोभ के कारण है। प्रसाद की भाषा प्रिय-प्रवास के कवि के कंकड़-पत्थरों से भरी हिम-स्राव सी भाषा नहीं, गुप्तजी की भाषा की सागर-वीचियों के फेनिल उद्वर्तन का भी यहाँ अभाव है, पन्तजी की वह नवनीत मधुर संगीतस्वरता भी प्रसाद में नहीं। प्रसाद में भाषा का अनूठा हेमोज्ज्वल सुकरत्व है।

पर कोई कह सकता है कि भावों के अनुकूल समस्वरित भाषा न हो तो यह भाषा का दोष है। भाषा-उद्वेग चित्रों को यदि अपने निजी विकारों से प्रकट कर सकती है तो वह सोने में सुगन्ध के समान काव्य और कवि के उत्कर्ष को बढ़ाती है। यह लोच और चोज भाषा की जान है—और प्रसाद की भाषा इस दृष्टि से खरी नहीं कही जा सकती। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा कवि शब्दों की आत्मा से परिचित नहीं। यह भी सन्देह किया जा सकता है कि ऐसा कवि कभी

अपने काव्य को अभिव्यक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है ?

भाषा सौन्दर्य का जब तक मौलिक-ज्ञान न हो तब तक इन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिल सकता। भाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती है। जिसमें जितनी अधिक प्रधान उसके निजी व्यक्तित्व की प्रेरणा होती है उतना ही अधिक उसकी भाषा में अन्य व्यक्तियों से भिन्नता होती है—

यह वैयक्तिक भिन्नता, संक्षेप में ऊपर बतायी जा चुकी है। किन्तु इस भिन्नता के साथ प्रत्येक कवि में उसकी भाषा के सौन्दर्य का भी एक अन्तर-रूप उपस्थित रहता है। प्रसादजी ने 'झरना' में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार लिखी हैं—

सरसों के पीले कागज पर बसन्त की आज्ञा पाकर
गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने मुखला कर ॥
खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में।
परिमल पूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में ॥
अतल सिन्धु में लगा-लगा कर, जीवन की बेड़ी बाजी।
व्यर्थ लगाने को डूब्बी हाँ, होगा कौन भला राजी ॥
मिले नहीं जो वाञ्छित मुक्ता अपना कंठ सजाने को।
अपना गला कौन देगा यों, बस केवल मर जाने को ॥
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे।
फिर बिकसेगी उजड़ी क्यारी, क्या गुलाब की यह मेरे ॥
कभी चहलकदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर।
अपना पाईंबगा बना लोगे प्रिय ! इस मन को आकर ॥
(झरना में 'पाईंबाग'।)

इस कविता की भाषा में क्या है ? विन्यास में मर्म को छूने की चेष्टा है और कुछ शब्दों को टटोलने का उद्योग। विन्यास गठित और संस्कृत है। शब्दों में कवि सौन्दर्य ढूँढने में लगा हुआ है। तभी कभी कवि कहता है—

'परिमल पूरित पवन कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में'—और कहीं कहता है; 'कभी चहल कदमी करने को काँटों का कुछ ध्यान न कर'—ऐसा चहल-कदमी कवि में बहुत कम है। उसने शब्दों के सौष्ठव को ढूँढ़ा और तब वह सम्भवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शुद्धता वाञ्छनीय है; शुद्धता में तपे हुए सोने की। उसने फिर ढले हुए शब्दों का ही प्रयोग किया। इस सहज शुद्धता के सौन्दर्य की वृद्धि कवि के एक और भाषा सिद्धान्त पर निर्भर करती है। भाषा में शब्द-सम्बद्धता दो प्रकार की होती है; एक शब्दानुवर्तिनी और दूसरी भावानुवर्तिनी। जहाँ शब्द, शब्द से अपने आप जुड़े वहाँ शब्दानुवर्तिनी सम्बद्धता होगी। इसके लिए पदावली समास-प्रणाली की संश्लिष्ट योजना का सहकार लेती है। 'विश्व-मधु-ऋतु के कुसुम विलास' लहर, पृष्ठ १६ में प्रसादजी ने उसी शब्दानुवर्तिनी सम्बद्धता का सहारा लिया। इस प्रकार की घनिष्ठता भाषा सौष्ठव और सौन्दर्य को आग-क्रान्त कर देती है। शब्द अपने प्रयास से एक विशेष प्रकार के भाव को खींच कर लाना चाहते हैं और सहजत्व में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। कुछ कवि तो प्राचीन संस्कृतानुकरण पर ऐसे-ऐसे वाक्य लिख देते हैं—'रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायःकलिका राकेन्दु बिम्बानना'। प्रसादजी ने इस सिद्धान्त को नहीं माना। भावानुवर्तिनी घनिष्ठता उन्होंने अपनायी है। इसमें भावों की प्रवाहित धारा में शब्द, विशिष्ट मणिकाओं से, एक-दूसरे से अपने उद्‌गारों को मिलाये प्रतीत होते हैं। मिश्रित और समस्त पद उसमें नहीं। इस सिद्धान्त से भाषा में एक स्वाभाविकता आ जाती है। वह शुद्धता, जो अन्यथा संस्कृतमयी होकर एक जटिलता उत्पन्न करती और सौन्दर्य को विकृत करती इस सहजता से खिंचकर स्फूर्तिप्रद हो गयी है—

जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खड़ी थी,

ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पड़ी थी।

कामायनी, पृष्ठ १०६

× × ×

हिमगिरि के उतुङ्ग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

कामायनी, पृ० ३

इस शुद्ध स्फूर्ति के साथ भाषा-सौन्दर्य का प्राण 'करुणा' है। रस की करुणा नहीं, भाषा की करुणा। रस की करुणा तो विशेष भावोत्पादन पर आश्रित है, उसका स्थायीभाव होना है करुणा। किन्तु भाव चाहे कैसे ही हों संगीत स्वर लहरी में कुछ विशिष्ट स्वरों का आगम और विशेष के निषेध जैसे एक करुणा-लहरी की लय नर्तन कर उठती है, उसी प्रकार भाषा-विकास में भावों से मुक्त भी एक करुणा ऐसे ही मिलती है जैसे प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण मिलते हैं। इस प्रकार कवि ने स्वतः भाषा को हृदय के मूल काव्य-रस के पास पहुँचा देने का प्रयत्न किया है—उसका सौन्दर्य कितना अभूत हो चला है—वह कहता है—

अधर में वह अधरों की प्यास
नयन में दर्शन का विश्वास,
× ×
टूटते जिससे सब बन्धन
सरस-सीकर से जीवन-कन । लहर, पृ० २१

अथवा।

झील में झाईं पड़ती थी,
श्याम-वनशाली तट की कान्त

चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अशान्त ॥
तृप्ति में आशा बढ़ती थी
चन्द्रिका में मिलता था ध्वान्त ।
गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त ॥

झरना, पृ० ५१

झरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये हैं—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में कवि करुणा बैठाये हुए हैं। ये भाषा का कारुण्य उनके नाटक के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार !
हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये विश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश !

कामा० पृ० ६०

भाव आश्चर्योल्लास से पूर्ण हैं पर भाषा करुण है। भाषा पर इस करुण पालिश के सुकरत्व को हम कुछ समझ पाते हैं। वे इतने ऊँचे धरातल पर हैं कि साधारण भाव-भंगिमाओं के लिए उन्हें विशेष भाषा-व्याहन करने की, उसमें अधिक उतार-चढ़ाव करने की आवश्यकता नहीं। वे रूढ़ि-मुक्त रस के अभिव्यक्ता नहीं। उन परिपाटियों के नव अर्थकार हैं। वे सौन्दर्य के साक्षात्कारक हैं और जिस सौन्दर्य का उन्होंने दर्शन किया है वह स्निग्ध और अभूत तथा अमूर्त है। उसकी कल्पना करुण रहस्य से मण्डित और संस्कृत है—उसमें स्फूर्ति भी है। इसी के अनुरूप इनकी भाषा है जो अनुद्वेलित करुण इङ्गितों का एक श्लिष्ट मण्डल तय्यार करती है—उसी में उनकी कल्पना उतरती है।

करुणा-भाषा की स्फूर्तिप्रद तूलिका से, ऐसा नहीं कि उन्होंने मूर्त चित्र उपस्थित ही नहीं किये। उनके उपस्थित मूर्त-चित्रों की रेखायें इतनी गहरी और उभरी नहीं कि साधारण दृष्टि में दीख जायँ। भावों के जिस स्निग्ध लोक के निस्पन्द दृश्य कवि ने उतारे हैं उनमें प्रतीक सी अपनी सत्ता को लय किये हुए उनकी भाषा की मूर्त-चित्रता है। वह उस पेन्सिल-चित्र की रेखाओं के समकक्ष है जिसमें एक अङ्कन ही अपनी परम्परा सब रेखाओं में बनाये हुए, ऊँचायी-गहराई, गोलाई, लम्बाई चौड़ाई का विस्पष्ट रूप निर्दिष्ट करता है, और जिसमें ये सब परिमितियाँ किसी भाव-जागरण को प्रधानता देने के कारण गहराई से अपना महत्त्व घोषित नहीं करती, जैसे अपना ऐक्य समर्पण कर स्वतः भाव बन गयी हों। तुलसीदासजी ने जब कहा—

उठति उर्व्वि अति गुर्व्वि सर्व्व पर्व्वै समुद्र सर,

और इस प्रकार समुद्र का और पृथ्वी का चांचल्य अर्थ और शब्द दोनों से समान हुआ। इसमें मूल शब्दों की हिलकोर से उग्र रेखाओं का चित्र उतरता है, कवि का भाव भी वहाँ उद्दण्ड है। प्रसादजी ने अपने काव्य में इन तूफानों की जहाँ सृष्टि की है वहाँ मूर्त ऐन्द्रिकता के सहारे नहीं की वरन भावेन्द्रिकता के सहारे की है। उर्व्वि गुर्व्वि पर्व्वै आदि से कर्ण कुहरों में जो संघर्ष होता है उसका अर्थ उद्वेलन लगता है। प्रसादजी ने अपनी भाषा में इसे बचा दिया है, वे जब लिखते हैं—

चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज।

इन पंक्तियों से किसी के आने के शब्दों का जो मूर्त चित्र उपस्थित होता है वह बहुत पूर्ण और सफल है। किन्तु मूर्त ऐन्द्रिकता नहीं, भावेन्द्रिकता है। प्रत्येक शब्द अपने ध्वनि-संघर्ष से नहीं वरन् भाव-संघर्ष से अपना एक रूप स्थिर करता है। 'सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज'—इसमें सब शब्द अपने अर्थ-भाव के साथ अपने रूप के भावों को भी जागृत करते हैं। उनसे जो मूर्त रूप आता है

उसमें अर्थाभाव भरकर कल्पना को विशद और सजीव कर देते हैं। 'उर्व्वि' शब्द से जो कर्ण-संघर्ष से ऊँचाई नीचाई की मूर्त-ऐन्द्रिकता का चित्र उपस्थित होता है, उसमें उर्व्वि का अर्थ 'पृथ्वी' कहीं समाता नहीं। यहाँ भावेन्द्रिकता नहीं हो सकती जैसी प्रसादजी की पंक्ति में है। अतः कवि भाषा को बहुत ऊँचा उठा ले गया है—उसको भाषा भावुकता के साथ और ऊपर झाँकने को प्रस्तुत है। अपना सौन्दर्य उसने सँवारा है कि और ऊँचे सौन्दर्य को आर च ते, पर कलाकार की आँख उससे भी बड़े कलाकार ने बन्द करदी।

प्रसादजी के छन्द

वाक्य भाव की भाषा है तो छन्द वाक्य की भाषा है। प्रसाद जैसा कवि केवल भावोद्वेगों को उद्गार करने के लिए नहीं, वह रस अथवा सौष्ठव मात्र उपस्थित नहीं करना चाहता है, वह संस्कृति और सौन्दर्य अथवा संस्कृत सौन्दर्य को झाँकने वाला है। उसने उसे देख लिया है, इसीलिए एक भावुक भक्त की भाँति सौन्दर्य के आवाहन के सत्कार के प्रत्येक बेर को शबरी की भाँति चख कर सुरुचि के साथ बड़ी भयकातरता किन्तु आत्म-विश्वास के साथ रखता है। उन्होंने अपना ज्ञान और पाण्डित्य नहीं प्रकट किया। विविध छन्दों का उन्होंने उपयोग किया है, किन्तु इस बात पर एक बार अविश्वास किया जा सकता है कि उन्होंने छन्द-शास्त्र को कभी महत्त्व दिया था उसका यथाविधि अध्ययन भी किया। यह इसलिए नहीं कि उन्होंने जो छन्द लिखे वह शास्त्रानुकूल नहीं, वे सभी शास्त्र प्रतिपादित हैं; बस उनमें शास्त्रीयता नहीं मिलती। प्रसाद सहज स्रष्टा प्रतीत होते हैं—उन्होंने जितने भी छन्द लिखे हैं उनमें सब में उन्होंने काव्य के सौन्दर्य की पात्रता मात्र देखी है। उस पात्रता के लिए स्वर-संगीत एक आवश्यक तत्व उन्होंने समझा है। स्वर-संगीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नहीं, जैसी पन्त में है। इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नहीं, न इसका अर्थ संगीत की लय-गति है। इसका अर्थ है अक्षरों के स्वरों का एक दूसरे में द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द में द्रवित स्वरों का प्रवाह है जिससे एक संगीत स्वयं प्रवाहित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होंने छन्दों का चयन किया है।

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया'—

साकेत के इन चरणों में संगीत है किन्तु इन पंक्तियों को देखिए:—

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना।
सोने वाले जाकर देखें, अपने सुख का सपना

— लहर पृ० ५१

इनमें स्वर-संगीत है। छन्द के स्वर बहे बहे एक चरण से दूसरे में अपनी लय को तिरोहित कर आगे को उद्बुद्ध करते हैं। दोनों के संगीत का सिद्धान्त अलग-अलग है। यह स्वर-सङ्गीत प्रसादजी के प्रत्येक काव्य के अन्तर में प्रवाहित है। यह शब्दों के कारण नहीं वरन् छन्दों के स्वभाव के कारण है।

उन्होंने छन्द कितने ही प्रकार के लिखे हैं, 'झरना' जैसे संग्रह में ४८ छोटी-छोटी कविताएँ हैं; और प्रायः प्रत्येक कविता एक नये छन्द में लिखी गयी है—किन्तु नया छन्द लिखा गया इस ज्ञान से कि यह भिन्न जाति का हो और बस; उन्होंने यह कभी नहीं जाना कि कौनसा छन्द लिखा जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्वक शास्त्र निर्णीत विभिन्न छन्दों को मिला कर अपने लिए एक रचना की है।

'झरना' में झरना नाम की पहली कविता का एक छन्द शास्त्र-प्रथा विरुद्ध छः चरणों का है—

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥

मनोहर झरना,

कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।

प्रथम दो चरण १७-१७ मात्रा के हैं। तीसरा ६ मात्राओं का है। चौथा फिर १७ मात्राओं का है। पाँचवाँ भी ऐसा ही है। छठा तो टेक की भाँति सबसे ऊपर के चरण की दुहरावट है। १७ मात्राओं वाले चरण में ८ और ६ पर यति है किन्तु यह यति का नियम व्यापक नहीं। कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा। हाँ, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपनी गति में सावधान और सुन्दर रहा है। अन्तिम यतिकाल की मात्रा का चरण तीसरा है। इस प्रकार छन्द में संगीत पैदा किया गया है। प्राचीन पिंगलों में ऐसा छन्द नहीं मिलेगा। कवि ने अपनी शक्तिशाली रचना से प्राचीन छन्द परिपाटी की जड़ में अपनी दृष्टि डाल दी है। वे इसी कारण नव-छन्द रचना के मूलाधार हुए। काव्य और भाव का ही नया रूप उन्होंने नहीं उतारा किन्तु छन्द का भी नया रूप उपस्थित किया। स्वर-संगीत वाला कवि तुक को गर्हित नहीं समझता तो उसके लिए प्राण भी नहीं देता। प्रसादजी तुकों की अवहेलना नहीं करते उन्हें केवल और सिद्धान्त पर लाने के पक्ष में हैं। वे उन्हें आवश्यक नहीं समझते और यही दिखलाने के लिए उन्होंने कई रचनाएँ तुकविहीन कीं—

> वीणे! पञ्चम स्वर में बजकर मधुर मधु
> बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
> उस वर्षा में भागे जाने से भला
> लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

किन्तु छन्द-जीवन को ललित बनाने के लिए उसे उपयोगी समझा है और जब वे एक स्थिर महाकाव्य लिखने बैठे तो उसमें किसी छन्द को अतुक नहीं रख सके; यद्यपि तुक का नियम अपनी रुचि के अनुकूल ही कहीं भले ही रखा हो। तुकहीन रचनाएँ दो प्रकार की हैं एक तो ऊपर जैसी हिन्दी की शैली की, जिसमें छन्द की गति निश्चित मात्रा के मार्ग से हुई है, अथवा इसी के थोड़े हेर-फेर से विशेष संगीताधीन किये हुए छन्द के द्वारा जैसा झरना के पहले छन्द में मिलता है। दूसरी

शैली में कवि ने मात्रा-विधान को स्थान नहीं रखा। भावों की माप के अनुकूल नादस्फोट और लय-विराम के सिद्धान्त पर—

जैसे—'प्रलय की छाया' में—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की,
सन्ध्या आज है भी तो धूसर क्षितिज में।
और उस दिन तो;
निर्जन की जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।

× × × ×

"आँखें खुलीं,
देखा मैंने चरणों में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि,
और प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी थी।
वह एक सन्ध्या थी।"

इसमें किसी चरण की मात्रा निश्चित नहीं। प्रत्येक चरण प्रायः भिन्न मात्रा का है, जहाँ दो चरणों में मात्रा सन्तुलन है, वह इसलिए है कि उन दोनों में भाव सन्तुलन भी हैं। भाव के अनुकूल उसके विस्तार के साथ छन्द के चरणों का नियमन हुआ है। इसमें इसके साथ-साथ एक गहरी स्वर-धारा समवेत है। वही नाद-स्फोट और लय विराम से इस काव्य के छन्द को छन्द बनाये हुए है। हम एक स्वर धारा में पढ़ना आरम्भ करते हैं—

आँखें खुलीं—और अन्तिम स्थल पर एक भाव पूर्ण होता है किन्तु लय विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद-स्फोट उसे चरण बनाता है। वह स्वर-धारा किन्तु आगे बढ़ती ही जाती है। 'थी' और 'राशि' पर नाद-स्फोट के कागारों को उलंघते-उलंघते न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यह लय विराम आता

है। इस प्रकार इस छन्द का विधान हुआ है। इस सब में स्वर-धारा को बाँधे रखने वाला छन्द हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सबसे पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी में कभी केंचुआ कभी रबड़ छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त की प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के चरणों तथा चरणाङ्गों को भावानुरूप नाद-स्फोटों तथा लय-विरामों से सजाकर नये रूप में उपस्थित कर दिया। इससे कवि की सृजन की मौलिकता का कितना असन्दिग्ध पता मिलता है।

तो जब तक कवि छोटे-छोटे उद्गारों को छोटी-छोटी भाषा में बाँधता रहा उसने ये प्रयोग किये, आगे बढ़ते ही जैसे उसने महाकाव्य की रचना की रूप-रेखा खड़ी की, उसने वे सब प्रयोग करना छोड़ दिया और वह अपने विधान में छन्दों के प्रयोगात्मक महत्त्व को छोड़, सिद्ध रूप को लेकर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ। वहाँ भी वह कम स्रष्टा नहीं, किन्तु वहाँ वह इतना गम्भीर हो गया है कि उसके प्रयोगों में जो उतावलापन दीखता है, वह छोड़ दिया है।

कामायनी के छन्द प्रायः ३०—३२ और २४ मात्राओं और इसके १६, १६; १६ १५; १६, १४ वाले भेदों के अन्वावि ही आते हैं— कामायनी का आरम्भ १६—१५ मात्राओं के वीर छन्द से होता है। यह वीर छन्द तो कवि ने रखा है किन्तु १६ का एक चरण और १५ का दूसरा चरण बनाकर साधारणतः जहाँ यति होती वहाँ चरण पूर्ति मान कर 'वीर छन्द' का रूप बदल दिया है। इस प्रथम 'चिन्ता' के अध्याय में 'वीर छन्द' के बीच में 'ककुभ' के समकक्ष १६, १४ के यति पर चरणपूर्ति वाला छन्द लिखा गया है, जिसके अन्त में दो गुरुओं का नियम नहीं रखा गया है। 'आशा' में भी ऐसे ही छन्दों का प्रयोग है। 'श्रद्धा पटल' में छन्द बदल कर १६—१६ मात्राओं के चरणों के हो जाते हैं। यह 'शृङ्गार' नामक छन्द है। इसके अन्त में ऽ। होता है।

कौन तुम संसृति-जल निधि नीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

इसमें कहीं-कहीं ऽ। के स्थान पर अन्त में । ऽ भी कर दिया गया है—यथाः

तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आकाश का आह्लाद।

फिर 'काम' में यह छन्द 'पद पादाकुलक' हो जाता है। यह १६ मात्राओं का छन्द है जिसके अन्त में ऽ होता है।

वासना में रूपमाला छन्द का उपयोग है। यह छन्द १४, १० के यति से अन्त में ऽ। के साथ होता है। 'लग्ना' में फिर पद-पादाकुलक है। 'कर्म' में 'सार' छन्द के समकक्ष, १६, १२ की यति का नहीं वरन् चरण-पूर्त्ति का छन्द है।

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोम लता तब मनु को;
चढ़ी शिंजिनी सी, खींचा फिर
उसने जीवन-धनु को।

कहीं पर यह १६-१२ का न होकर १४-१४ का भी कर दिया गया है—

कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;

'ईर्षा' में कवि ने दो विभिन्न छन्दों के चरणों से एक मिश्र छन्द बनाया है—

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार।

इसमें पहला चरण १६ मात्रा का पदपादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

'इड़ा' में गीति-पदों को स्थान दिया गया है, किन्तु वह भी १६ मात्राओं के चरणों का द्वित्व मात्र है। टेक १६ की ही है।

'स्वप्न' में फिर १६-१४ का ककुभ के सदृश एक छन्द है, पर इसमें यति को ही चरण-पूर्ति नहीं माना गया।

'संघर्ष' में रोला या काव्य छन्द है, यह २४ मात्रा ११-१३ की यति से ही होती है। 'निर्वेद' में ककुभ सदृश छन्द है। 'दर्शन' में 'पादाकुलक' है, १६ मात्रा और अन्त में ऽ। होता है। इसमें कवि ने छः चरण रखे हैं। इसमें पहला चरण पूर्व का प्रसिद्ध छन्द चौपाई है, दूसरे चरण की जगह कहीं 'डिल्ल' है—जैसे

'श्वास रुद्ध करने वाले इस'

कहीं 'अरिल्ल' जैसे

शून्य पवन बन पंख हमारे—जैसे

छन्दों के चरणों का भी मेल मिला दिया गया है।

'आनन्द' 'सखी' छन्द में है, जो १४ मात्रा का होता है।

इतने छन्दों में यह कामायनी समाप्त की गई है।

सब छन्दों में भावानुरूप है। प्रसादजी वस्तुतः गीति-काव्य के कवि हैं। 'Lyrics' में जिस प्रकार उद्‌गारों का सौन्दर्य सुकोमल और करुण कलेवर में प्रकट होता है, वही प्रसाद के छन्दों में भी बात है। 'कामायनी' जैसा महाकाव्य भी उस गीतकाव्य आत्मा से खिल उठा है। वह उसमें भी व्याप्त है। उसमें गीतकाव्य का स्वरूप तो नहीं रहा, आत्मा ही है। इस प्रकार कवि ने गीति-काव्य की ओर भी हिन्दी को आकर्षित किया। प्रसादजी भारत के सच्चे सपूत थे। उन्होंने काव्य जगत में भावात्मक क्रान्ति भी की और रूपात्मक भी। उन्होंने संस्कृति का बहुत मूल्य रखा है और उनके छन्दों का सुकरत्व भी संस्कृति का परिचय देने वाला तथा भावानुरूप है।